'श्रीविश्वेश्वरः शरणम्'

रजत-जयन्ती

सम्वत् २००२

सम्पादक
श्रीदेवनायक-आचार्य.

पौषपौर्णिमा गुरु

श्रीः

संस्तव

श्रीरजतजयन्तीमहोत्सव के उपलक्ष्य में विद्यानुरागी महानुभावों को यत्किञ्चित् उपहाररूप यह पुस्तक सप्रेम समर्पित है। इस पुस्तक में निम्नाङ्कित विषय हैं—

१—मङ्गलाचरण
२—प्राक्कथन
३—उद्घाटनीय चित्रों का परिचय
४—सञ्चालक मेहता परिवार का परिचय
५—पचीस वर्षों के कार्य का विवरण
६—वेद सम्बन्धी संस्कृत लेख
७—वेद सम्बन्धी अंग्रेजी लेख

इन विषयों के अतिरिक्त इस पुस्तक में एक सौ चौदह चित्र दिये गये हैं।

साङ्गवेद विद्यालय जैसी मर्यादानुबद्ध सुव्यवस्थित आदर्शसंस्था के सम्बन्ध में निबन्ध लिखना बड़े उत्तरदायित्व का कार्य था। इस भार को उठाना शक्य न होता यदि सहृदय सहायकों का सहयोग न प्राप्त होता। इस सम्बन्ध में निम्नाङ्कित नामों का उल्लेख बड़ी कृतज्ञता और प्रेम से कर रहा हूं 'मिताक्षरा-विशेषज्ञ' प्रोफेसर विनायक विष्णु देशपाण्डे एम० ए० एल० एल० बी० हिन्दू विश्वविद्यालय। न्यायाचार्य पं० श्री हरिराम शास्त्री शुक्ल, पं० श्री गोपीनाथ शास्त्री मण्डलीकर, ज्योतिषाचार्य पं० श्रीरामनाथ जोशी, पं० श्री बेचू मिश्र शास्त्री एम० ए० एल्० एल्० बी०, पं० वैकुण्ठराम झा बी० ए० एल्० एल्० बी०, श्रीमान् लाला बाबू श्री दामोदरदास खन्ना, पं० श्री गणपतिशास्त्री हेब्बार साहित्याचार्य, पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते पं० भानुशंकर शुक्ल (चित्र विभाग)

आप लोगों ने लगन और योग्यता के साथ अपने अपने विभाग को यथा समय सम्पन्न किया जिसके फल स्वरूप यह कार्य सुसम्पादित हो सका। भगवान् वेदनारायण की सेवा में उच्चकोटिक अंग्रेजी लेख लिखकर प्रोफेसर देशपाण्डेय महोदय ने पाश्चात्य शिक्षित विद्वानों में शास्त्रीय विचारोंको पहुंचाने का श्रेय प्राप्त किया है।

—सम्पादक

धर्मप्राण प्रातः स्मरणीय लक्ष्मणशास्त्री द्राविड।

धर्मप्राणद्रविड श्रीलक्ष्मणशास्त्रिगुरुपदाम्भोजे।
हृदि मे सन्निदधातां दधतां स्वातन्त्र्यबुद्धिकरे॥

जन्म सं० १९३१] स्थापन सं० १९८८ [परलोक सं० १९८८

He was an eminent Scholar of Darshan Shastra at whose inspiration this Vidyalaya was founded. He was, not only a famous intellectualist of his time but, also, took keen interest in the politics, religious movements of the day. In fact he created interest in such movements in the Sanatani masses.

DHARMAPRAN Pt. LAKSHMAN SHASTRI DRAVID.

मङ्गलाचरणम्

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपातमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ १ ॥

—भगवान् वेदव्यास ।

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥ २ ॥

—अर्थ शास्त्र ।

नाध्यापयिष्यन् निगमान् श्रमेणो—
पाध्यायलोका यदि शिष्यवर्गान् ।
निर्वेदवादं किल निर्वितान—
मुर्वीतलं हन्त ! तदाऽभविष्यत् ॥ ३ ॥

—विश्वगुणादर्श

उच्चैर्गतिर्जगति सिद्ध्यति धर्मतश्चेत्,
तस्य प्रमा च वचनैः कृतकेतरैश्चेत् ।
तेषां प्रकाशनदशा च महीसुरैश्चेत्,
तानन्तरेण निपतेत् क नु मत्प्रणामः ? ॥ ४ ॥

—भोजराज

१—मूक होइ वाचाल पंगु चढ़े गिरिवर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन ॥

२—वेदों के द्वारा ही जगत् में आर्यों की सत्य आदि मर्यादा की प्रतिष्ठा है । वर्णाश्रम धर्म की स्थिति भी वेदों से ही है । अतः वेदों से ही लोकरक्षा है । उसी के रक्षण से जनता अनार्यता से मुक्त रह सकती है ।

३—यदि अध्यापक गुरुजनों ने श्रमपूर्वक शिष्यों को वेदाध्यापन न किया होता तो संसार वेद शून्य तथा यज्ञ मर्यादा ज्ञान आदि से रहित हो जाता !

४—संसार में धर्म ही से उच्च गति, उन्नति प्राप्त होती है । धर्म की यथार्थ शिक्षा मनुष्य से अनिर्मित वेदों से ही है । उनका प्रकाशन करने का अधिकार, सामर्थ्य ब्राह्मणों को ही है । इसलिये हम कहते हैं कि उन ब्राह्मणों को छोड़ हमारा प्रणाम और किसको पहुँचे ?

श्रीमान् मेहता पं० वल्लभरामजी ।

यन्नाम्ना महताकुलकीर्तेर्विद्यालयस्य नामास्य ।
श्रीमान् वल्लभरामः स शुचीनां श्रीमतां मान्यः ॥

जन्म सं० १८६३] स्थापन सं० १९८० [परलोक सं० १९७५

MEHTA Pt. VALLABHARAMJI.

He was a great votary of learning and religion in whose memory this Vidyalaya was founded.

श्रीविश्वेश्वरः शरणम् ।
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ॥

प्राक्कथन

जयन्ति गुरवोऽस्माकं येषां वात्सल्यवीक्षितम् ।
हरते हृद्गतं ध्वान्तं स्वान्तमाह्लादयन् मुहुः ॥ १ ॥
प्राची सन्ध्या काचिदन्तर्निशायाः । प्रज्ञादृष्टेरञ्जनश्रीरपूर्वा ॥
वक्त्री वेदान् पातु वो वाजिवक्त्रा । वागीशाख्या वासुदेवस्य मूर्तिः ॥२॥

पूज्य धर्माचार्य चरण ! धर्मदिवाकर श्रीमान् अध्यक्ष श्री काशीराज महाराज ! तथा समुपस्थित महानुभाव वृन्द ! सर्वेश्वरकी अनुपम अनुकम्पा से श्री वल्लभराम शालिग्राम सांगवेद विद्यालय आज भगवान् वेदपुरुषकी सेवामें अपने ऐतिहासिक जीवनका पचीस वर्ष सानन्द संपन्न करता हुआ इस महोत्सवके साथ आप महानुभावोंकी कृपा दृष्टि का भाजन हो रहा है ।

अनन्त विचित्रताओंसे परिपूर्ण यह विशाल विश्व, सृष्टिकर्ता के कलाओं की एक अद्भुत प्रदर्शिनी है । संकुचित मनोवृत्ति की स्थूल दृष्टि से देखने पर जहां यह सुख दुःख की उलझनों के सिवाय और कोई महत्त्व नहीं रखता, वहां विशाल हृदयता से सूक्ष्म निरीक्षण करने वालों को विश्वेश की असीम शक्तियों के परिचय के साथ प्रतिक्षण अभिनव अद्भुतरस का आस्वाद दिलानेवाली मनोरंजक एक उत्तम पहेली है । जिस में विजयके लिये एक ही गोल (लक्ष्य) है वह यह कि—अन्तिम कोटि का विज्ञान प्राप्त किया जाय । अन्तिम सिद्धान्त है कि जगत् का निर्माण बुद्धिपूर्वक हुआ है । इसका रचयिता अशेष विशेषों को करतलामलकवत् देखता हुवा प्रत्येक अणु परमाणु की गतिविधि एवं सार्थकता पर ध्यान रखता है । तृण या पहाड़, कीटाणु या ब्रह्मदेव, किसी की भी रचना बीज और प्रयोजन के विना नहीं हुई है । इस दृष्टि से जब एक एक वस्तु को उठाकर देखें तो आश्चर्य का पारावार नहीं रह जाता । मानव शरीर की कौन कहे, एक छोटे से प्राणिशरीर को भी बनाकर उसमें चेतना शक्ति का सञ्चार कर देना, अभीतक मानव बुद्धि के परे की बात है । अधिक से अधिक विनाश, जल्दी से जल्दी कर देने में ही मानव विज्ञान की अन्तिम उन्नति समाप्त हो जाती है ।

क्या यह कम आश्चर्य की बात है कि, असंख्य फल फूल पत्तों को चित्र विचित्र रूपमें उत्पन्न करने की शक्ति, छोटे छोटे बीजों में किस प्रकार निहित रहती है ।

क्या विशाल भूगोल, नक्षत्र, ग्रह आदिकी सुव्यवस्थित स्थिति एवं गति, कल्पना शक्ति को हिलोरा देनेवाली नहीं है ? क्या मानव शरीर की रचना के साथ उसके अन्तर्जगत् की लोकातीत विशालता और अद्भुतता चमत्कार पूर्ण नहीं है ?

इन सब बातों को यथावत् कार्य कारण भाव के गणित के साथ जानना, बनाना, फिर उसपर नियन्त्रण रखना आदि ऐसे कार्य हैं जिन्हें देखकर विश्व के रचयिता का स्मरण सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् आदि शब्दों से बुद्धिमान्जन किया करते हैं।

महर्षि व्यास के कथनानुसार ऐसे सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान को भी एक कौतुक रहता है, वह यह कि उसके कौशल को समझने वाले कुछ ज्ञानी लोग भी हों जिन्हें समझ समझ कर आनन्द मिलता रहे।

बहुत से जलचर, स्थलचर, नभचर आदि प्राणियों का निर्माण बड़ी कुशलता से करके भी सर्वेश्वर का यह कौतुक पूरा न हो सका। अन्तमें मानव प्राणी की रचना होते ही स्वयं सर्वेश्वर को परम हर्ष इसलिये हो उठा कि मनुष्य प्राणियों में यह योग्यता है कि वे विश्वेश की सारी कलायें समझ सकते हैं। इससे सारांश यह निकलता है कि मानव जीवन का लक्ष्य (गोल) सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करना ही ईश्वराभिमत अन्तिम लक्ष्य है। इसीलिये योगियाज्ञवल्क्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्"। भगवान् ने तो ज्ञानियों के लिये "ज्ञानी त्वात्मैव मे मत:" तक कह दिया है। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, निर्भ्रान्त एवं लोकातिशायी ज्ञान प्राप्त हो कैसे ? यद्यपि तर्कबल अपार है, उसके सहारे, बहुत कुछ विज्ञान की प्रगति होती दिखाई पड़ती है; किन्तु बहुत बड़ा दुर्गम क्षेत्र आगे पड़ा हुआ है, जहां तर्क शक्ति के किरण नहीं पहुंच पाते। उदाहरणार्थ आज सारे भूमण्डल के तार्किकों का दल शान्ति एवं सुव्यवस्था का मार्ग शास्त्रनिरपेक्ष केवल तर्कबल से निकालने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। इस प्रकार जीवन के व्यावहारिक उपयोग में आनेवाली वस्तुओं के तत्त्वज्ञान में ही जब असमर्थ हो रहे हैं तो आध्यात्मिक जगत् की अत्यन्त परोक्ष बातों में तर्क सञ्चार की कथा "उद्बाहुरिव वामन:" के सिवाय और क्या हो सकती है।

'वेदोंका महत्त्व'

इस अवस्था में सब प्रकाशोंका प्रकाशक महाप्रकाश अनादि निधन शाश्वत "वेद" ही पथ-प्रदर्शक होकर आगे आता है। प्रत्यक्ष अनुमान से अगम्य वस्तु का अवबोध कराने से ही वेद अपनी असाधारणता रखते हैं। सर्वेश्वर ने विश्वनिर्माणार्थ यदि ब्रह्मदेव को प्रथम शिल्पी (इंजीनियर) नियुक्त किया है तो साथ ही उनके लिये दिग्दर्शक (गाइड) वेद नाम की वस्तु भी उन्हें दी है।

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" श्वेताश्वतरोपनिषत्।

मनु के शब्दों से तो ब्रह्मदेव की सारी कृतियां वेदके ही आधारपर हुई और होती हैं ऐसा प्रतीत होता है।

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" ॥

वेदभगवान् की बताई हुई दिव्य योजना में शान्ति, समता, सुस्थिति और स्वतन्त्रता आदि मौलिकतत्वों का सुन्दर समन्वय अनुपम है।

राजनीति, अर्थनीति, व्यवहार नीति आदि समस्त नीतियों को सुनीति बनाने में धर्मनीति का सुवास लगाकर विषमय विषय को भी मधुमय माधुरीमें परिणत करने की वैदिक कला का आकलन कर सहृदय हृदय को वर्णनातीत आनन्द प्रतीत होता है।

कोई वज्र सम कठोर अस्त्रों के प्रयोग से शान्ति की विफल चेष्टा कर रहा है तो दूसरा कोमल कुसुमों की सुषमाओं से अन्तस्तल में शान्ति की विमल धारा बहा रहा है।

दण्ड और दण्डप्रणेता के विना ही परस्पर एक दूसरे के भला करने की पवित्र भावना वेद भगवान् की अमोघ योजना है जिसके व्यावहारिक रूप का उल्लेख—

'नैव राज्यं न राजाऽसीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः पाल्यमानाः परस्परम् ॥'

भीष्मपितामह के इस वाक्यमें किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐहिक और आमुष्मिक सभी प्रकार की अपेक्षाओं को सुचारु रूप से परिपूर्ण करने के लिये "वेद" इन दो अक्षरों से कही जाने वाली वस्तु भगवान् की एक अनुपम देन है।

इतिहास तथा वेद रक्षण का महत्व

सुरक्षा और संहार ये दो परस्पर विरोधी कार्य हैं। दोनों को करने वाली शक्तियां अवश्यमेव परस्पर विरुद्ध हैं। फिर भी कोई शक्ति बिना सर्वशक्तिमान् का सहारा लिये अपना कार्य करने में अक्षम है। इस नीति से एक ही सूत्रधार के हाथ की दोनों ही कठपुतली हैं। इन दोनों शक्तियों का कार्य विश्व-रचयिता की सृष्टिक्रिया आरम्भ होते ही बिगुल बजने पर वीर सैनिक सिपाहियों की भाँति उठ खड़ा होता है, फलतः जहां विश्वरक्षा के साधनों को सुरक्षित रखना, एक का काम होता है, वहां उक्त साधनों को विप्लुत करना दूसरे का। बस इसी देवासुर संग्राम से सारा इतिहास रंगा हुआ है।

यह एक ऐतिहासिक बात है कि अनादि निधन वेदोंका आविर्भाव होते ही दैत्यों ने उनका अपहरण किया—

उस समय विश्वरक्षा का प्रश्न अवश्य विषमसमस्या थी जिसे सुलझाने के लिये स्वयं सर्वेश्वर को मत्स्य रूप में अवतार लेना पड़ा। इससे स्पष्ट अवगत होता है कि वेदों की रक्षा का कितना महत्व है।

साथ ही यह मान लेना, अनुचित न होगा कि, वेदरक्षा करने में सावधानी रखने की शिक्षा देने के लिये ही भगवान ने यह अवतार धारण किया था।

इस आदर्श का बहुत बड़ा परिणाम यह देखा गया कि मानव समाज के चारो वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों) ने वेद महापुरुष की सेवा में अपना २ जीवन अर्पण कर दिया। ब्राम्हणवर्ग ने वेद के तत्वज्ञान के संरक्षणार्थ अध्ययनाध्यापन को स्वयंसेवक भाव से (धर्मभाव से) अपनाया। क्षत्रिय वर्ग ने वैदिक विधानों के अनुसार प्रजा को ले चलने तथा विपरीत मार्ग को रोकने में अपने प्राणोंतक की बाजी लगादी। वैश्य वर्ग ने वेदोदित राजन्यवर्गानुमत कार्यों को संपन्न करने के लिये अर्थार्जन तथा सद्विनियोग के द्वारा वेदसंरक्षण को अपना सर्वस्व समझा। वेदाभिमत शिल्प में अपने को तल्लीन कर शूद्र वर्ग ने वैदिक संस्कृति की अनुपम सेवा का भार प्राणपण से उठाया। फल यह हुआ कि वैदिक अनुशासन कालका इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ आज भी विश्व को चमत्कृत कर रहा है।

वैदिक विधान एवं विज्ञान से भारतवर्ष की विशेषता

वैदिक विधानोंको पूर्णरूपसे पालन करनेके लिये उचित कालक्रम (ऋतुविकास) जल, स्थल, औषधि, कर्ता आदिकी अपेक्षा रहती है। प्राकृतिक नियमों को देखते हुये उपर्युक्त समस्त वस्तुयें विन्ध्य हिमाचल सह्याद्रिप्रभृति पर्वत, गङ्गा यमुना, सरस्वती, कावेरी, तुंगभद्रा, नर्मदा प्रभृति दिव्य नदियों वाली इस समुद्र-वसना पावन मातृ-भूमि श्रीभारत भूमिमें ही उपलब्ध होती है। फलतः ईश्वरीय व्यवस्था ऐसी प्रतीत होती है कि हृदयके रूपमें सारे भूमण्डल के मध्य भारतवर्ष एक केन्द्र स्थान है। यहाँ पर वैदिकविज्ञान की पूर्णकला विकसित होकर सारे भूमण्डलमें अनुकृति और विकृति रूप में फैली हुई है। इसीलिये यह सन्देश है कि—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ मनुः ॥

इस प्रकार वैदिक विज्ञान के आधार पर, सारे भूमण्डलका ही नहीं, वरन् सारे विश्वके सच्चालन में भारतवर्ष का हाथ रहा है। उदाहरणार्थ—"सूर्यगोल विश्व की सुस्थिति में किस प्रकार असाधारण कारण है यह बात किसी से छिपी नहीं है। वैदिक मत तो स्पष्ट है "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"। आगे इस सम्बन्ध में कहना यह है कि, सूर्यमण्डल अग्नितत्वप्रधान है इसबात को सभी मानते हैं। आधुनिक विज्ञान भी इस विषयमें भिन्नमत नहीं रखता।

साथ ही यह भी मानना पडता है कि अग्नि अपने अधिष्ठान भूत द्रव्य को जलाते हुये किसी अवस्था में स्वयं शान्त हो जाता है, सूर्यमण्डल का अग्नितत्व साधारण नियम के अनुसार अधिष्ठान द्रव्य को जलाता हुआ जारहा है, ऐसी स्थिति में वह समय आसकता है, जब कि वह शान्त हो जाय।

फिर उस दशा में विश्व विलय की अवाञ्छनीय आपत्ति कैसे टल सकेगी यह चिन्ता दूरदर्शिता

से विचार करने वाले वैज्ञानिक मण्डल में उत्पन्न हुई है, जिसका उत्पन्न होना सर्वथा उचित भी है। किन्तु कष्ट इस बात का है कि इसका हल अभी तक नहीं स्फुरित हो रहा है।

दूसरी ओर वैदिक विज्ञान को देखते हैं तो उसने इसका हल, अनादिकाल से निकाल कर रक्खा है। एक ओर अग्नितत्व इन्धन को जलाता रहे और दूसरी ओर इन्धन का पूरण (सप्लाई) भी होता रहे तो क्या पूर्वोक्त आपत्ति की आशंका रह सकती है ? यही कार्य वैदिक विधान में "यागकर्म" के द्वारा होता है, इसके वर्णन में—

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते" यह बात ध्यान देने योग्य है। इन बातों की ओर लक्ष्य देने वालों को यह मानना ही पड़ता है। कि भारत सारे विश्व का उपकारक है और उसका एकमात्र सहारा है "वेद"। इस प्रकार यद्यपि वेद सबके हितकारी हैं, फिर भी जैसा पहिले कहा गया है इसपर बराबर आपत्तियां आती ही रही हैं और उनका प्रतीकार भी होता ही रहा है। किसी समय तो दुरुपयोग देखकर आसुरभाव वालों के सम्मोहनार्थ स्वयं सर्वेश्वर ने भी बुद्धरूपमें आकर वेदविरुद्ध प्रचार बड़ी कुशलता से किया है। सम्भव है, असुर सम्मोहन के साथ अपने पूर्व शिष्य भारतीय वर्णाश्रमियों की परीक्षा भी भगवान् को इष्ट रही हो। जो कुछ भी हो, उस प्रसङ्गकी यह घटना उस मोहक स्थिति में भी एक भारतीय अबला के मुख से निकलने वाले "को वेदानुद्धरिष्यति" यह करुण शब्द भारतीय हृदय के वेदानुराग के एक प्रतीक हैं।

साथ ही उत्तर में आनेवाली "भट्टाचार्योऽस्ति भूतले" वीरोक्ति और तदनुसार प्राण तकको बलिवेदी पर चढ़ाकर वेद रक्षा करने की कृति स्पष्ट बतलाती है कि वेदों के लिये भारतीयों ने क्या किया और क्या कर्तव्य है और परीक्षा में कैसे उत्तीर्ण होना भारतीयजन जानते हैं। अस्तु।

ऐतिहासिक युगमें आगे चल कर उससे भी भीषण परिस्थिति वह थी, जब कि अपने शरीर को फाड़ फाड़ कर वेदतत्वोंको उसमें छिपाकर बचाना पड़ा, किन्तु उन अवस्थाओं में भी अविचल भाव से तत्कालीन वेदानुरागियों ने अग्नि परीक्षा दी।

कालक्रम के अनुसार इधर की दो शताब्दियों में सङ्कट का रूप परिवर्तित हुआ। इधर शिर कटने की भीति जाती रही, बदले में शिर बिगड़ने की बात आई।

वेदों की पुस्तकें जलाने के बजाय सुन्दर सुनहले जिल्दों में उच्च अट्टालिकाओं की मनमोहक चित्र विचित्र आलमारियों में पधराई गई, वेदज्ञ भी निर्भय होकर विचरने लगे, आलोचन प्रत्यालोचन भी चलने लगे।

कौन कह सकता है कि यह परिस्थिति कण्टकाकीर्ण घने जङ्गल और पहाड़ के बाद की सुन्दर निरापद राजमार्ग नहीं है। इसी आकर्षण में बहुत दूर आगे चलकर यह अनुभव आने लगा कि यह मार्ग शीतल मन्द सुगन्ध समीर से ठण्डा और स्निग्ध अवश्य है, पर इसके भीतर कालियकुल के विष-

धरों का निःश्वास भी छिपा है जो समूल जलाकर भस्म कर डालेगा। यह तो पहिले से भी भयावह है।

वर्त्तमान आपत्ति का स्वरूप

वेदों के सम्बन्ध में शङ्का उत्पन्न कर दी गई, पढ़ाई का रूप बदल डाला गया, विद्वान् परतन्त्र कर दिये गये, विपरीत शिक्षा का सम्मान बढ़ाया गया और इस शिक्षा को निःसार कर अपमानित किया गया, जिससे इस शिक्षा के लोगों को लज्जा का अनुभव होने लगा और दूसरों का उमङ्ग बढ़ा, इस शिक्षा के विद्वानों की क्रियाशक्ति अनेक उपायों से संकुचित कर दी गई जिससे उन्हें स्वयं अपने विषय में लज्जितपना का अनुभव आने लगा, फलतः विद्वान् लोग भी अपने बालकों को इस शिक्षा से हटाने की आपत्ति में फँसे, जिसका परिणाम यह हुआ कि आदर्श ही नष्ट होने लगा।

कहां तो भारत के सामान्य ग्रामों में "स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणम्" की ध्वनि शुक जैसे पक्षियों के मुख से सुनने की कथा है और कहां काशी जैसे विद्या और धर्म के केन्द्र में भी ब्राह्ममुहूर्त के समय गलियों में आने जाने वालों को वेद ध्वनि सुनने का सौभाग्य जाता रहा।

पवित्र वेदध्वनि लुप्त प्राय होने लगी। क्या करना! किधर जाना! किससे कहना! ऐसी विषम परिस्थिति में पुनः वही करुणनाद "को वेदानुद्धरिष्यति को वेदानुद्धरिष्यति" होने लगा। यह विक्रम बीसवीं शताब्दी का भीषण दृश्य है।

इसके इतिहास में भी सुनते हैं कि, रावराजा दिनकरराव के राम मन्दिरमें वेदविद्या संवर्द्धिनी सभा हुई, जिसमें उस समयके स्थानीय रईसों एवं विद्वानों ने भाग लिया। श्रीयुत मुन्शी माधवलाल जी के मस्तक पर चारों वेदों की पुस्तकें रक्खी गईं, उन्होंने सादर सोत्साह स्वीकार किया कि वेदोद्धार का कार्य प्राणपण से किया जायगा। पर दुःख की बात है कि, वेदरक्षा का कार्य आगे बढ़ न सका, प्रत्युत आपत्ति ही उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और विवेकियों के हृदय में कम्प होने लगा कि दयामय सर्वेश्वर! त्रैलोक्य न्यारी काशी की यह दशा है तो वेद की नौका मध्य धारा, में डूबने वाली है, किसकी शरण जाऊं।

यद्यपि दुःख, दारिद्र्य, अवमान आदि सहन करते हुए तीव्र अभ्यास और गुरुभक्ति के बल से जहाँ तहाँ कतिपय विद्वान् लोग अध्ययन अध्यापन के द्वारा वेदरक्षा के लिये सराहनीय प्रयत्न कर रहे थे। राजकीय विद्यालय, अर्द्धराजकीय तथा प्रजापक्षीय विद्यालय प्रभृति बहुतसी संस्थायें, भी कार्य कर ही रही थीं। तथापि चिन्ता का कारण यह हुआ कि, सारा प्रयास प्राचीन आदर्शपर परस्पर समन्वित नहीं होता था। कहीं साधन तो कर्तृपक्ष परतन्त्र, कहीं कर्तृपक्ष स्वतन्त्र तो साधन नहीं। कहीं वेदका अभ्यास तो वहां अंगभूत शास्त्रों का सर्वथा अभाव और कहीं शास्त्र हैं तो अंगीवेद का सम्पर्क ही नहीं। इस प्रकार असमन्वित स्थिति में रहने के कारण सब कुछ होते हुये भी उत्तरोत्तर ह्रास ही दिखने लगा। वेद और अंग शास्त्रों के अलग हो जाने के कारण यहां तक स्थिति पहुंची कि वेदाभ्यास करने वाले वैदिकों की अन्नान्न दशा उत्पन्न हो गई। बहुत से वैदिक जो निरन्तर वेदाध्ययन में ही अपना समय यापन

श्रीमान् महाराजाधिराज द्विजराज काशीराज
श्री ५ प्रभुनारायण सिंह शर्म बहादुर जी० सी० एस्० आई०, जी० सी० आई०, ई० एल्-एल्० डी० ।

उद्धर्तुं प्रबलोद्यमेषु विबुधेष्वाम्नायधर्मस्थितिं
साहाय्यं प्रति काशिराज उदितो नारायणः स प्रभुः ।
सोऽयं यस्य कराम्बुजात्समभवद्विद्यालयोद्घाटनं
यस्यादर्शनिदर्शनं तदनुगेष्वद्यापि विद्योतते ॥

THE LATE HIS HIGHNESS Dr. SIR PRABHU NARAYAN SINGH SHARMA BAHADUR G. C. S. I., G. C. I., E. L. L. D. OF BENARES.

He was himself very learned and gave much impetus to the spread of Sanskrit learning. He was the unrivalled patron of Sanskrit learning in his time. He was regarded as moving Vishwanathji by his subjects especially the residents of Benares town who always hailed him with the slogan of Har Har Mahadeo.

करने वाले थे, किसी समय कै० धर्मप्राण पूज्य श्री लक्ष्मण शास्त्री जी द्राविड महोदय के पास आकर अपने कष्टों को निवेदन कर कहने लगे कि यदि पेट भरने मात्र को चावल और नमक भी मिल सके तो हम लोग सानन्द वेदाभ्यास कर सकें और अपने बालकों को भी प्रवृत्त करें । शास्त्री जी, आज उसकी भी कठिनाई हम लोगोंके सामने है । पूज्य शास्त्रीजी को वेद पाठियों की यह दयनीय अवस्था देखकर भारी चिन्ता उपस्थित हुई और आपके हृदय में यही ध्वनि होने लगी कि—"को वेदानुद्धरिष्यति" ।

विद्यालय का उपक्रम

आपके चित्तमें परमात्माने अनुपम स्फूर्ति दी, जिसपर लोक मंगलकारी यह भावना उत्पन्न हुई कि वर्तमान युग की आपत्तियों का सामना कर वेदोद्धार का मार्ग प्रशस्त बनाना ही जीवन का लक्ष्य है । इस भावना को लेकर श्री शास्त्री जी ने भारत के ओर छोर तक अनेक रूपमें प्रयत्न किया जिनका वर्णन स्वतन्त्र विषय है जो कि अपने साथ एक पूरा इतिहास रखता है ।

यहां केवल उन घटनाओंका दिग्दर्शन कराना है जिनसे प्रस्तुत प्रसंगका प्राण शरीर सम्बन्ध है ।

यह स्मरण दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि एक ही सूत्रधार सर्व शक्तिमान परमात्मा की सृष्टि में सुरक्षा और संहार की परस्पर विरोधिनी दो शक्तियों का संघर्ष अद्भुत घटनाओं को लिये हुए चलता रहता है ।

यह ऐतिहासिक बात है कि दोनों पक्ष की पूर्व तैयारी चिरकाल तक पीढी दर पीढी के सतत प्रयत्न के बाद ही सम्पन्न हो पाती है और तभी उनका क्रियात्मकरूप संसार के सामने आता है ।

वेदोद्धार की चिन्ता में विमल नागर वंशोद्भव मेहता परिवार के समुज्वल रत्न महात्मा श्री वल्लभ राम जी तथा श्री शालिग्रामजी के भागिनेय तथा अभीष्ट कार्य संचालक मेहता पं० श्रीबिहारीलालजी तथा मेहता पं० श्री किशोरीलालजीके साथ कलकत्तामें होने वाले कै० धर्म प्राण श्री शास्त्री जी के सत्परामर्शने वैदिक विपत्तिकी अंधियारीमें प्रकाश अध्यायका आरम्भ किया । आप महानुभावों को वर्तमान युग की कठिनाइयोंके सूक्ष्म निरीक्षण में सफलता मिली । आप लोग उन कारणों का ठीक विश्लेषण कर सके जिनसे वेद विद्या का दिनों दिन ह्रास हो रहा था, फलतः भगवदनुग्रह से आप लोगों को उन कारणों के निराकरण करने का समञ्जस उपाय निकालना शक्य हुआ ।

चिरकाल से परस्पर बिछुड़े हुये वेद और वेदाङ्गों का उचित सन्धान श्री साङ्गवेद विद्यालय के रूप में करने का निश्चय एक उत्तम आविष्कार हुआ, जिसपर आप महानुभावों को प्रसन्नता हुई । परन्तु चिन्ता यह बनी ही रही कि कोई भी आविष्कार राजशक्ति का अवलम्बन प्राप्त किये बिना फल पर्यवसायी प्रकाश में नहीं आ सकता । इस चिन्ता में भूतभावन भगवान् श्री काशीविश्वेश्वर ने अपनी त्रैलोक्य विलक्षण नगरी का राज्यकार्य भार जिन्हें दे रक्खा है ऐसे स्व० महाराज श्रीप्रभुनारायणसिंह जी बहादुर महोदय को इस लोकोत्तर कार्य के लिये प्रदान किया । इस प्रकार विद्या, लक्ष्मी और प्रभुशक्ति

इन तीन महाशक्तियों का अलौकिक सम्मिलन होते ही पावन सलिला भगवती भागीरथी गङ्गा के तीर श्री काशी विश्वनाथ की नगरी रामघाट पर विक्रम सम्वत् १६७७ माघ शुक्ल त्रयोदशी रविवार के शुभ दिन शुभ घड़ी में उक्त श्री काशीराज महाराज श्री प्रभुनारायण सिंह जी बहादुर महोदय के करकमलों से धार्मिक जगत के प्रेमपात्र इस "श्री वल्लभराम शालिग्राम साङ्गवेद विद्यालय" का आविर्भाव हुआ।

आरम्भिक संस्थापकों का संस्मरण।

प्रतिष्ठापित होने के दिनसे इस महाविद्यालयने आजतक पचीस वर्षोंमें जो कुछ कार्य किया है उसका दिग्दर्शन कराने को आरम्भ करने के पूर्व यहाँ विद्यालय पर बीती हुई कुछ दुःख और सुख की घटनाओंका वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

ऊपर के वर्णनों से आप महानुभावों को विदित हो गया होगा कि किन किन महापुरुषों के सम्बन्ध से इस पवित्र अनुष्ठान की प्रतिष्ठा हुई है। विधाता का विधान समान रूप से विश्व की गति विधिपर लागू होता है। जो सर्वथा अनिवार्य है।

अल्पवय में ही शनैः शनैः विद्यालय को अपने प्रतिष्ठापकों का वियोग सहन करना पड़ा। वे समय विद्यालयके जीवन कालमें बड़े दुःखके थे। विद्यालयको, उद्घाटनके अनन्तर द्वितीय वर्षमें सर्व प्रथम वियोग अपने प्राणदाता मेहता पं० बिहारीलाल जी का हुआ। अनन्तर सम्वत् १६८८ में आचार्य धर्मप्राण श्री लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ महोदय का असाधारण वियोग कष्ट सहन करना पड़ा। इसी वर्षमें मेहता पं० किशोरीलाल जी संन्यास ग्रहणकर ब्रह्मीभूत हुए। विद्यालय का उद्घाटन कर महाराज श्री काशीनरेश ने इसे सदा प्रोत्साहित किया। स्थायी सभापति के पद को अलंकृत कर सदा इसके कार्यों को देखते थे, वार्षिकोत्सवों में पधारते थे, ग्यारह वर्षों के अनन्तर सम्वत् १६८८ में विद्यालय को आप का वियोग वज्र आघात पड़कर खिन्न करना ही चाहा कि तुरन्त राज्य के अन्यान्य कार्यों के साथ अन्तरंग एवं अपने प्रिय कार्य के रूप में इस विद्यालय के कार्य को श्री काशीराज महाराज श्री ५ आदित्यनारायण सिंहजी महोदय ने सम्भाल लिया। आप अन्यान्य कार्यों का महान भार रहते हुये भी विद्यालय के कार्य को सम्पन्न करने में बहुत प्रसन्न होते थे।

एकबार तो यहां तक देखा गया कि राज्यारोहणोत्सवके दरबार का महान् कार्यक्रम था। मनमें संशय होता था कि इस गुरुतर कार्यभार के समय महाराज को अवसर कैसे प्राप्त होगा, किन्तु उनका भाव अन्यादृश था। यथापूर्व विद्यालयोत्सवके समस्त कार्यों को यहां पधारकर उस समय में भी आपने सम्पन्न किया। उस समय महाराज के यहाँ तक प्रेमोद्गार निकले कि यह तो घर का कार्य है। विद्यालय के वार्षिकोत्सव में कभी भी ऐसा अवसर नहीं हुआ कि महाराज न पधारे हों। इसे आपने वार्षिक कार्यक्रम का नियम बना लिया था। अन्तिम वर्ष में यहां तक प्रसङ्ग था कि पूर्व दिन में स्वास्थ्य की दुर्बलता से पार्श्ववर्ती हितैषियों की सम्मति से न आनेका निश्चय हुआ, पर दूसरे दिन प्रातः काल एका-

श्रीमन् महाराजाधिराज द्विजराज काशीराज
श्री ५ आदित्यनारायण सिंह शर्म बहादुर केप्टन् के०सी०एस०आई०

प्राचीनैः प्राक्कृतानां विविधबुधजनारब्धलोकोपकार-
प्राग्भाराणां धुरं यो निरवहदनिशं विद्वदादिष्टमार्गः ।
एतं विद्यालयं यो निरदिशदमले विश्वविद्यालयत्वे
श्रीमानादित्यनारायणनृपतिरसौ राजते काशिराजः ॥

THE LATE HIS HIGHNESS ADITYA NARAYAN SINGH SHARMA BAHADUR CAPTAIN K. C. S. I. OF BENARES.

He took keen interest in the expansion of Sanskrit learning and especially in this Institution which has the proud previlege of claiming the Maharajas of Benares as its life presidents.

एक महाराज ने आज्ञा की कि विद्यालय के उत्सव में चलने की तैयारी की जाय। तदनुसार उस वर्ष भी महाराज उत्सव में पधारे थे।

ऐसे संरक्षक का वियोगदुःख, विद्यालय को सम्वत् १९९६ में सहन करना पड़ा।

इस प्रसङ्ग में पं० गोपालजी ठाकुर तथा पं० जानकीलालजी जानी का स्मरण होता है। आप महानुभाव इस विद्यालय के प्रबन्ध विभागमें थे। पं० गोपालजी ठाकुर ने प्रारम्भिक समय में बहुत लगन और योग्यता से कार्य को अग्रसर किया। अनन्तर पं० जानकीलालजी जानी ने बड़ी तत्परता और सुन्दरता से विद्यालयीय कार्यों को व्यवस्थित रूप से चलाया। इन लोगोंका वियोग प्रबन्धविभाग के लिये दुःसह था। पं० जानकीलालजी के हार्दिक प्रेम का परिणाम है कि उनके भागिनेय पं० वैकुण्ठ-रामजी झा बी०,ए०,एल०,एल०, बी० महोदय अपने मातुल चरणों का आदर्श पालन करते हुये विद्यालय का प्रबन्धकार्य कर रहे हैं।

इस प्रकार दुःख परम्पराका अनुभव करते हुये धीरता रखने कितना कठिन है, इस बात को सहृदयता से विचार करने वाले सभी सज्जन भली भांति जानते हैं। फिर भी इस विद्यालय को इस बीसवीं सदी के कठिन काल में वेदरक्षार्थ विश्वके सामने लाने वाले महानुभाव, जिनका कि पवित्र संस्मरण ऊपर किया गया है "महापुरुष थे"। उनका पाञ्चभौतिक देह क्षयिष्णु, पर उनकी पुण्यराशि अक्षय्य है, वह आज भी है और सदा बनी रहेगी, वे सदा अमर हैं, जीवित हैं, "कीर्त्तिर्यस्य स जीवति"।

वर्तमान संरक्षकों का समागम-

इतना ही नहीं, सभी उक्त महापुरुषों के परम सुयोग्य अभीष्ट कार्य-सञ्चालकों की छत्र छाया में विद्यालय को "फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः" की भांति परमोल्लास में क्लेशानुभव का क्षण मिलना ही अशक्य हो गया है।

आज "रजत-जयन्ती-महोत्सव" के अध्यक्ष पूर्वजों के सुकृत की महाविभूति, श्रीकाशीराज महाराज श्रीविभूतिनारायण सिंह जी महोदय अपने पूज्य पितृ देवों में अटूट श्रद्धा रखते हैं, आप में यह लोकोत्तर गुण है। आप सदा प्रत्येक कार्यमें सूक्ष्मता से ईक्षण करते हैं कि इस विषयमें बूढ़े दाऊजी, बड़े दाऊजी और दाऊजी कैसा करते थे।

"येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति"॥

मनु महाराज के इस उपदेशका आदर्श आप में है। विद्यालय के कार्य को पितृदेव के सामने बहुत अल्पवय में ही आपने देखा था, उसी समय से इस कार्य में आपका आदर और उत्साह है। आप स्थायी सभापति हैं, विद्यालय आपसे सनाथ है। विद्यालयको उत्तरोत्तर अधिक प्रभुशक्ति का आश्रय

प्राप्त होगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है। विनय, विद्यानुराग, प्राचीन मर्यादा की दृढ़ता, देवभक्ति आदि के सम्बन्ध में महाराज की बड़ी कीर्ति है। सब को पूर्ण आशा है कि आपका शासनसमय काशी की राजपरम्परा के इतिहास में स्वर्णअक्षरों में लिखने लायक होगा। आपकी पवित्रता से "श्रीकाशीराजके दर्शन में श्रीकाशी विश्वनाथ के दर्शन" की भावना प्रजा वर्ग के अन्तःकरण में उत्तरोत्तर बढ़ेगी।

मेहता परिवार के वर्तमान सञ्चालक वेदशास्त्रसंरक्षक मेहता पं० मुरारीलालजी तथा मेहता पं० गिरधारी लालजी विद्यालय को उत्तरोत्तर उन्नत कर रहे हैं। आपलोगों की ऊँची भावना, धर्मनिष्ठा, वेदसंरक्षण कार्य में उत्साह और सबके ऊपर सरल-स्वभावता अनुपम है। ये दोनों ही भाई, गुणों में एक से एक बढकर हैं। इनके और भाई पं० मनोहर लाल जी तथा पं० गोविन्दलाल जी तथा पं० हरिलाल जी हैं। ये सब बड़े भाइयोंके आज्ञाकारी, विनीत एवं धर्मशील हैं। सबका प्रेम विद्यालयमें है। इस परिवार की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि सब एक स्वभाव के धर्मात्मा हैं। और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस कराल कलिकाल में यह मेहता परिवार भ्रातृप्रेम का एक अलौकिक आदर्शस्थल है। समस्त अनुजवृन्द अपने पूज्य अग्रज पं० मुरारीलालजीको रामसदृश सर्वमान्य करते हुये उनकी आज्ञा का पालन करना ही अपने जीवन का एक मात्र ध्येय मानते हैं। आप लोग आगे घरके बालकों को भी इसी ढङ्ग शिक्षित बना रहे हैं, यह बड़े हर्ष और आशा की बात है। विद्यालय की प्रतिष्ठा के समय मेहता पं० गिरिधारीलाल जी छोटे वय के थे। धर्मप्राण श्री शास्त्रीजी ने उद्घाटन के समय जो वक्तव्य दिया था, उसमें मेहता पं० मुरारीलाल जी के सम्बन्ध में जिन शब्दों को कहा था वे इस प्रकार हैं, "चि० मुरारीलाल जी को तो धन्यवाद के बदले अनेक बार सप्रेम आशीर्वाद है और परमात्मा से प्रार्थना है कि उनकी सब प्रकार से उन्नति करें और इसी तरह से धर्मसेवा में उन्हें कटिबद्ध रखें। यदि चि० मुरारीलालजी इसमें रातदिन न लग जाते तो यह कार्य इतने शीघ्र सुसम्पन्न होने में बड़ा ही सन्देह था, यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है।"

भगवान की कृपा से इन सञ्चालक महोदयों का ऐसा उत्साह है कि विद्यालय की अर्थशक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही है। विद्यालय ने अनेक कार्यविभागों का आरम्भ किया है और आगे भी करने की योजना चल रही है। जो धीरे २ कार्यरूप में यथासमय परिणत होगी। सारांश यह है कि विद्यालय को अर्थ-सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं है। इसी प्रकार बड़ों के शुभाशीर्वाद से इन लोगों को धर्मभगवान् उत्तरोत्तर उन्नत करते रहेंगे और विद्यालय का कार्य बढ़ता चलेगा।

तीसरी है विद्याशक्ति, जिसके सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाय "प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्" की भाँति पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्री द्रविड़ महोदय आप महानुभावों के सामने हैं। वह भी समय था जब कि धर्मप्राण शास्त्रीजी के कैलासवास के अनन्तर समस्त धार्मिक जगत् एवं विद्यालय के अनुरागियों का हृदय इस बातके लिये क्षुभित और निराश हो रहा था कि इस वेदवृक्ष को आगे चलकर किस प्रकार सिञ्चन कर उत्तरोत्तर पुष्पित एवं फलित किया जावे, परन्तु भूतभावन

श्रीमन् महाराजाधिराज द्विजराज काशीराज–
श्री ५ विभूतिनारायण सिंह शर्म बहादुर।

सोऽयं सम्प्रति काशिभूपतिकुले सिंहासनाधीश्वरः
कैशोरेऽपि विशेषदर्शितगुणादर्शो बुधानां मतः।
प्राचीनाचलचुम्बिचन्द्रतुलया चेतः समानन्दयन्
भव्यानां सकलोत्तरोत्तर भुवामेकं समालम्बनम्॥

HIS HIGHNESS VIBHUTI NARAYAN SINGH SHARMA BAHADUR
MAHARAJA OF BENARES.

He is the present Maharaja of Benares and as such is the life President of this Vidyalaya. He not only follows but evinces keen interest in the Sanatan Dharma. May his interest in the welfare of this Institution increase and May Almighty grant him a long base of glorious rule and successful life.

भगवान श्री काशीविश्वेश्वर ने, जिनका कि वेदरक्षण करना निज कार्य है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, शास्त्ररत्नाकर पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्री द्राविड के रूपमें एक ऐसी अलौकिकशक्ति को प्रदान किया कि जिससे शास्त्रिचरणों के वियोग की अमावस्या रूपी घोरनिशाके तम को दूर करती हुई इस विद्यालय के भविष्य को पूर्ण उज्वल किया।

इस महाविद्यालय की स्थापना का मुहूर्त पं० रत्न शङ्करजी ज्यौतिषी ने बताते समय कहा था कि "मुहूर्त इतना उत्तम है कि यह कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहेगा"। शास्त्र सत्य है, प्रमाण है, भगवान्ने ऊपर कहे अनुसार उक्त शक्तित्रय का सम्मेलन बनाया है, इस ईश्वरीयविधान को देखते हुए कौन बुद्धिमान नहीं समझ सकता कि यह विद्यालय बढ़कर विश्वविद्यालय का सञ्चालन करेगा।

विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालय—

महानुभाववृन्द! काशी में ऐतिहासिक ब्राह्मणमहासम्मेलन सन् १९२८ में हुआ था। उसके स्वागताध्यक्ष स्व० काशीराज श्री ५ प्रभुनारायण सिंह जी महाराज बहादुर थे। अध्यक्ष मिथिलेश श्रीमान् महाराजा श्री ५ रामेश्वर सिंह बहादुर थे। सब सम्प्रदाय के धर्माचार्यचरण सन्निहित थे। सारे भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान सम्मिलित थे। वहां धर्मप्राण श्री लक्ष्मण शास्त्री द्राविड महोदय ने विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालय का प्रस्ताव उपस्थित किया था जो सर्वसम्मति से बड़े उत्साह के साथ पास हुआ। उस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने में बहुत समय तक उद्योग होता था। परम पूज्य धर्माचार्यचरण गोस्वामिकुलभूषण श्री १००८ गोकुलनाथ जी महाराज ने, अध्यक्षपद से उस कार्यसमिति का सञ्चालन किया था, जिसके लिये स्व० काशीराज महाराज श्री ५ आदित्यनारायण सिंह जी महाराज बहादुर महोदय की हार्दिक अभिलाषा थी। गत उन्नीसवें वर्ष के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सभापति पद से आप ने जो भाषण दिया था उसका शेषांश यहां महाराज के शब्दों में ही उद्धृत किया जा रहा है, 'आशा है, इस विद्यालय से निकले हुये विद्वानों के द्वारा हमारे प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता की रक्षा होकर संसार में पुनः सुख तथा शान्ति का प्रसार होगा। हम पण्डितराज श्री राजेश्वर शास्त्री द्राविड, मेहता पं० मुरारीलाल जी तथा पं० गिरधारीलाल जी को अनेक धन्यवाद देते हैं कि, आप लोग तन-मन-धनसे इस संस्थाकी उन्नति के लिये संलग्न हैं। साथ ही श्री विश्ववन्द्य विश्वेश्वर से यह प्रार्थना है कि इस विद्यालय को भारतीयविशुद्ध संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में देखने का अवसर शीघ्र ही प्राप्त हो'। विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालय के कार्य अग्रसर होते देखने के लिये कै०म०म० गुरुवर्य श्री वामाचरण भट्टाचार्य महाशय,तथा त्यक्त म०म०कै०

श्री पञ्चाननतर्करत्न महाशय सदा लालायित रहते थे। धर्मप्राण शास्त्रीजी के कैलासवास के बाद श्री तर्करत्न महाशय ने अपने अन्तिम दिनों में यह इच्छा प्रकट की कि विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालय की परीक्षायें उनके सामने आरम्भ हो जायँ।

इस प्रकार परमशिष्टसम्मत "विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालय" का कार्यभार इस विद्यालय को दिया गया। विद्यालय की सञ्चालकसमिति ने इस गुरुतर भार को लेकर अबतक जो कार्य किया है, उसका विवरण इस प्रकार है।

विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालय की एक सञ्चालकसमिति स्थापित की गई है, जिसमें उन संस्थाओं के प्रतिनिधि हैं, जिनका कि इस विद्यालय से अबतक सम्पर्क स्थापित हुआ है।

संस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—

श्री संकेश्वरशङ्कराचार्यपाठशाला	काशी
श्री रामानुजसंस्कृतमहाविद्यालय	"
श्री युवराजकुमारीसंस्कृतपाठाशाला	"
श्री भूदेवचतुष्पाठी	"
श्रीछुटकामल गोकुलचन्द्र औषधालयान्तर्गत "आयुर्वेदविद्यालय"	
श्री शिवकुमारभवन	कलकत्ता

विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालय के सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि इसका निर्माण विशुद्ध प्राचीन आदर्श पर हुआ है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि—स्वतन्त्र रूप में धर्मभाव से अध्ययनाध्यापन करने वाली गृहपाठशालाओं को उज्जीवित करते हुये समस्त विद्याओं और कलाओं का उज्जीवन करना प्रधान लक्ष्य है। विश्वविद्यालय नाम से युनिवर्सिटी की आधुनिक रीति का अनुसरण किया गया है, ऐसा नहीं समझना चाहिये।

श्री शिवकुमार भवन कलकत्ता, श्री छुटकामल गोकुलचन्द्र औषधालयान्तर्गत आयुर्वेद विद्यालय, इन दोनों संस्थाओंका उल्लेख करते हुये स्मरण हो आता है कि इन से भी श्री ५ काशीराज महाराज का घनिष्ट सम्बन्ध है। स्व० महाराज श्री ५ प्रभुनारायण सिंह जी महाराज बहादुर जब कलकत्ता पधारे थे तो स्वयं श्री शिवकुमार भवनमें जाकर देखा था और प्रोत्साहन दिया था। श्री छुटकामल गोकुलचन्द्र औषधालय जो यहीं रामघाट पर है उसका उद्घाटन स्व० महाराज के करकमलों से ही हुआ था जो आज तक सुचारुरूप से चल रहा है। इसके संस्थापक श्रीमान् लालाबाबू दामोदर दास

विद्यालय के सञ्चालक।

Promoters and Directors of the Yidyalaya
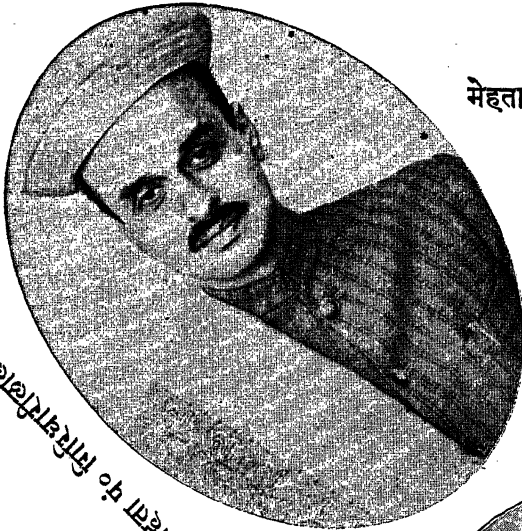
मेहता पं० मुरारीलाल जी।

मेहता पं० गिरधारीलाल जी

मेहता पं० मनोहरलाल जी

मेहता पं० गोविन्दलालजी

मेहता पं० हरिलाल जी

खन्ना महोदय यहां विद्यमान हैं, इस महोत्सव के आप स्वागतमन्त्री हैं. आप का उत्साह और कार्य-कौशल पूर्वजों की कीर्ति बढ़ाने वाला है। उक्त दोनों संस्थाओं के सञ्चालक आप हैं। ये दोनों संस्थायें धर्मप्राण श्री शास्त्री जी के संकल्प से जन्म पायीं हैं। श्रीमान् लालाबाबू धर्मप्राण शास्त्रीजी के अनन्यभक्त और कृपापात्र हैं।

विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालय की परीक्षाओं का आरम्भ संवत् १९९७ से कर दिया गया है। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले विद्यालयीय छात्रों को 'विक्रमवर्षाशन" प्राप्त होता है। इस से परीक्षा को प्रोत्साहन मिलता है। इस आदर्श को लेकर अन्य विद्यालय भी अपने यहां व्यवस्था करें तो यह परीक्षा व्यापकरूप धारण कर प्राचीन संस्कृति के उज्जीवन में बहुत अग्रसर हो सकती है।

यहां तक इस संस्था के अवतरण का संक्षिप्त वर्णन सुनकर उसके उद्देश्य और उपयोगिता का परिचय प्राप्त हो जाता है।

फिर भी इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरणके रूपमें इतना ही कहना आवश्यक है कि-देशकी रक्षा धर्मके विना नहीं हो सकती और धर्म-रक्षा वेदों के विना नहीं हो सकती; इसलिये इस विद्यालय का एकमात्र उद्देश्य वेद-विद्याओं की रक्षा के द्वारा देश का वास्तविक हित-साधन करना है।

विद्यालय का स्वरूप —

इस महाविद्यालयमें इस समय ११ अध्यापक हैं। जिनमे से वेद की ५ शाखाओं के अध्यापनार्थ वैदिक विद्वान् हैं। शेष अध्यापक-न्याय, व्याकरण, ज्यौतिष, साहित्य तथा दर्शनों का अध्यापन करते हैं। विद्यालय में वेद की सर्वोच्च परीक्षा स्थापित की गई है। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले छात्र को ५०) रु० पचास रुपयों का वर्षाशन यावज्जीवन देने की व्यवस्था विद्यालय की ओर से की गई है। यहां यह उल्लेखनीय बात है कि, जिस वर्ष में इस वर्षाशन दान का प्रारम्भ हुआ उस वर्ष में सभापति श्री काशीराज महाराज की ओर से आदर्श प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। महाराज के प्रधान मन्त्री श्रीमान् कर्नल बाबू विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह ने घोषित किया कि परीक्षोत्तीर्ण इन वैदिकों को महाराज भी पचास२ रुपये का वर्षाशन समर्पण करते हैं। इससे वैदिकों का उत्साह अनन्तगुणित हो उठा। यह व्यवस्था यहां आने के समय मे वर्तमान महाराज तक चली आ रही है। इस प्रकार द्विगुण लाभसे सभी सर्वोच्च वैदिक परीक्षोत्तीर्ण विद्वानों को बड़ा सन्तोष रहता है।

इस परीक्षा में विद्यालय के छात्रों के अतिरिक्त बाहर के भी छात्र सम्मिलित किये जाते हैं। विद्यालय तथा भिन्न प्रान्तों को मिलाकर अब तक २२ छात्र उत्तीर्ण होकर वर्षाशन के अधिकारी हुये हैं। यह अतिकठिन शलाका परीक्षा है, इसमें उत्तीर्ण होनेवाला छात्र उस शाखा में सर्वमान्य विद्वान् समझने लायक हो जाता है।

इसके अतिरिक्त शास्त्रविभाग में भी सर्वोच्चपरीक्षा की स्थापना हुई है जिसमें विशेषरूपसे उत्तीर्ण होने वाले छात्र को एक कालीन ५०००) पांचहजारका पुरस्कार देनेकी घोषणाकी गई है।

विक्रमादित्य वर्षाशन—

विद्यालय में विक्रम वर्षाशन की व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था के अनुसार उत्तम कक्षा की वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले विद्यालयीय प्रत्येक छात्र को १००) एक सौ रुपये और मध्यम कक्षामें ५०) पचास रुपये एक कालीन प्राप्त होते हैं। यह वर्षाशन धर्मनिष्ठ योग्य विद्वानों को भी प्राप्त होते हैं।

इस वर्षाशन व्यवस्था में यह एक व्यापक व्यवस्था की गई है कि किसी भी विद्यालय का छात्र इसे प्राप्त कर सकता है यदि वह विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालयकी वार्षिक परीक्षा उत्तीर्णकर उस विषय में गणेशोत्सव के शास्त्रार्थ में विजयी हो। इस वर्षाशन की घोषणा विक्रमसंवत् २००० में हुई थी।

गृह-पाठशालाओं के उज्जीवनार्थ पाक्षिक परीक्षा का विधान है, जिसके अनुसार विद्यालय के बाहर गृहपाठशाला में पढ़ाने वाले विद्वानों को, पाक्षिक परीक्षा में छात्रको उत्तीर्ण कराने पर पुरस्कार दिया जाता है।

विद्यालय में छात्रों के प्रोत्साहनार्थ पाक्षिक, त्रैमासिक, तथा वार्षिक परीक्षाओं का नियम रक्खा गया है। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले छात्रों को भी पुरस्कार दिया जाता है।

विद्यालय ने अबतक वेद एवं शास्त्र, दोनों विभागों को मिला कर अनेक विद्वानों को तैय्यार किया है, जिनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो आज विद्वन्मण्डल में बहुत उच्च सम्मान प्राप्त कर रहे हैं। अपने विषय में अनुपम विद्वान् समझे जाते हैं। साथ ही प्राचीन आदर्श के प्रतीक हैं।

छात्रावास—

छात्रों के निवास की सुविधा के उद्देश्य से कै० धर्मप्राण श्री शास्त्री जी के गुरुवर्य,म०म० कैलासचन्द्र शिरोमणि महाशय तथा म०म० श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री महोदय के स्मारक रूप में कैलास भवन एवं सुब्रह्मण्यभवन नाम के दो भवनों की व्यवस्था की गई है। जिनमें से कैलासभवन में अन्नसत्र की स्थापना की गई है। यह अन्नसत्र कै० मेहता श्रीहजारी लाल जी की स्मृति में, 'श्रीहजारीलाल अन्नसत्र' के नाम से चल रहा है। अन्नसत्र में छात्रों को भोजन देनेके अतिरिक्त संन्यासियों की भिक्षा का भी प्रबन्ध है।

श्रीगणेशोत्सव—

श्री गणेश जी की उपासना से निर्विघ्न कार्यसिद्धि, लोक और शास्त्र में सुप्रसिद्ध है। विद्यालय में बड़े समारोह के साथ सञ्चालक, अध्यापक एवं छात्रों के सदुद्योग से, गणेशोत्सव भाद्रपद शुक्लपक्ष में मनाया जाता है। इसमें काशी का विद्वन्मण्डल तथा छात्रवृन्द सोत्साह भाग लेता है।

श्रीमान् बा० दामोदरदास खन्ना (लालाबाबू)

SHRIMAN B. DAMODARDAS KHANNA (LALABABU)

A meritorious lecturer and helper of Sanatan Dharma.

श्रीगीर्वाणवाग्वर्धिनीसभा
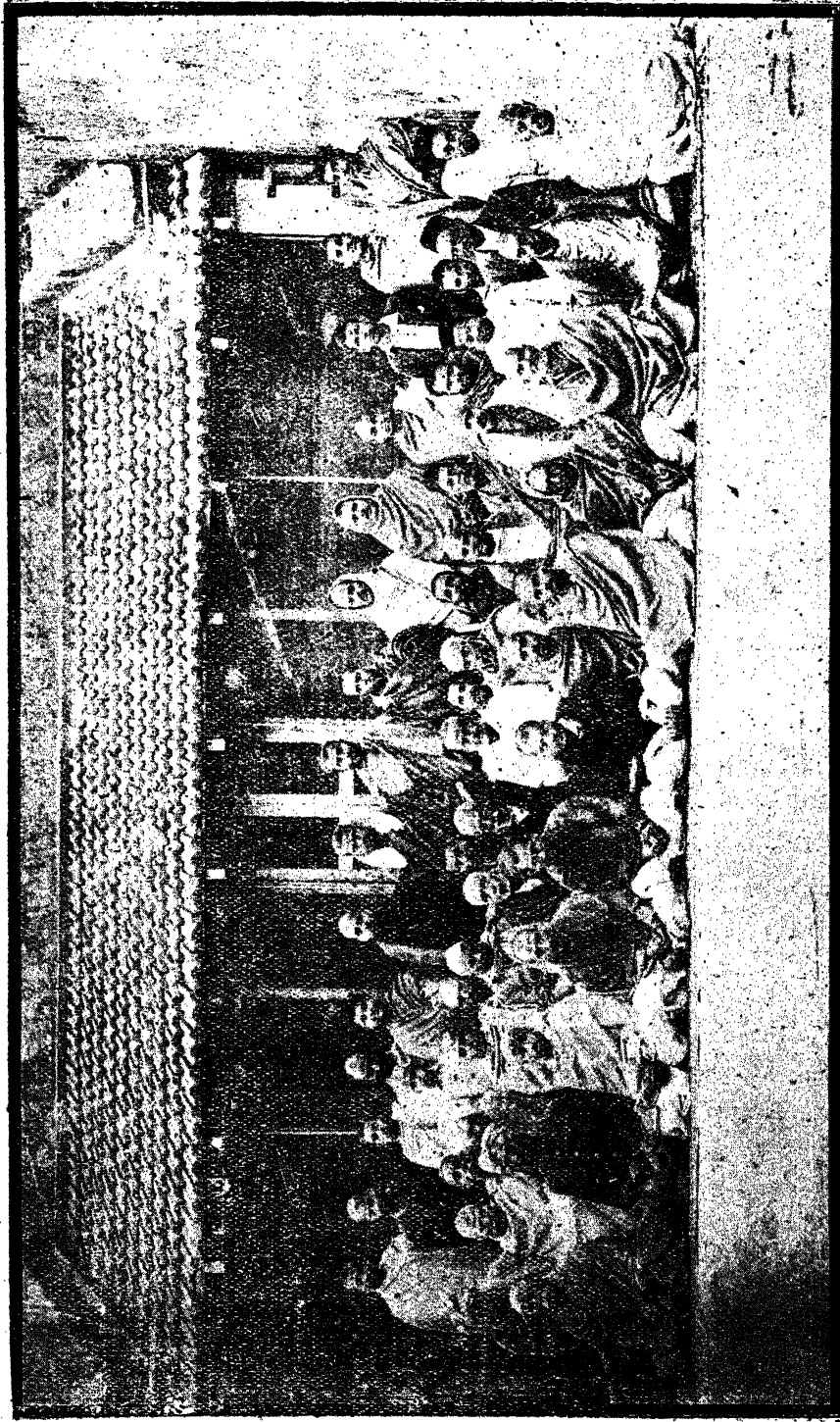
SHREE GEERVANAVAGVARDHINI SABHA.

चित्र परिचय पृष्ठ पर देख।

बीच में चौकी पर बायें से:-(१) पं० श्री गोविन्द शास्त्री शहापुरे (२) पं० श्रीपद्मप्रसादजी न्यायाचार्य अध्यापक मारवाड़ी संस्कृत कालेज काशी (विशिष्ठमध्यस्थ, संरक्षक) (३) बाबू धन्नू लाल जी (आय-व्यय निरीक्षक) (४) पं० श्रीविद्याविलास जी व्याकरण साहित्याचार्य अध्यापक ग. सं० कालेज काशी (५) पं० श्री नीलकण्ठ शास्त्री जोशी (उपसभापति, विशिष्ठमध्यस्थ) (६) पं० श्रीमंगलजी बादल (७) पं० श्री बेचूमिश्र शास्त्री एम् ए, एल्.एल्. बी. वकील (८) पं० श्रीमहादेवशास्त्रीखरण (९) पं० श्री गोविन्दशास्त्री दैजापुरकर उपसम्पादक सन्मार्ग काशी (१०) पं० श्रीगौतमजी ज्यौतिष अध्यक्ष काशीप्रान्तीय व० स्व० संघ (११) विद्वद्मान्य पं० श्री. ताराचरणभट्टाचार्य जी अध्यक्ष टीकमणी सं० कालेज काशी (१२) पं० श्री. वैकुण्ठरामजी झा. बी. एस्. सी. एल. एल बी. (कोषाध्यक्ष) (१३) सर्वतन्त्रस्वतंत्र, शास्त्ररत्नाकर, पण्डितराज श्रीराजेश्वरशास्त्री द्रावीड (संरक्षक) (१४) पं० श्री मुकुन्द शास्त्री पायगुण्डे (प्रधान लेखक, उपमंत्री, वेदवेदाङ्गाधीवेशन) (१५) पं०श्रीदेवनायक आचार्य (सभापति) (१६) रसायनविशारद पं०श्रीदुर्गादत्तजी (संरक्षक, विशिष्ठमध्यस्थ, उपसभापति) (१७) पं० श्री लक्ष्मणशास्त्री हैदराबादकर, (विशिष्ठसदस्य) (१८) पं० श्रीजयरामशास्त्री शुक्ल (मध्यस्थ) (१९) पं०श्रीत्रि० वि० देशपाण्डे मिताक्षराविशेषज्ञ, प्रो. लॉ कॉलेज हि. यु. काशी (विशिष्ठमध्यस्थ) (२०) पं० श्री. सनक नंदन पाठक (मध्यस्थ) (२१) पं० श्रीशिवनाथजी झारखंडी-विद्वद्रत्न एम० ए० एम० एस्-सी (२२) पं० श्री राजारामजी अकूत एम० एस०सी. सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल।

बैठेहुये बाये से—(१) पं० श्र. देवशङ्कर जी सामवेदी (उपसभापति, विशिष्ठमध्यस्थ) (२) पं० श्री. रामशास्त्रीसोलापूरकर (३) पं० श्री. रामचन्द्र शास्त्री पणशीकर (४) पं० श्री. मूलशंकर शास्त्री व्यास वेदान्ताचार्य सम्पादक अच्यूत मासिक काशी (५) पं० श्री. रामनाथ जी ज्यौतिषाचार्य (६) पं० श्री. रामचन्द्रशास्त्री खरणंग मिमांसाचार्य उपाध्यक्ष गोयनका संस्कृत कालेज काशी (७) पं० श्री. गोपीनाथशास्त्री जी मण्डलीकर (उपसभापति, कार्यदर्शकमंत्री, सहकारी कोषाध्यक्ष) मंत्रीकाशी-वर्णाश्रमस्वराज्यसंघ काशी (८) पं० श्री० हरिरामशास्त्री जी शुक्ल न्यायाचार्य (प्रधानमंत्री) (९) वैदिकशिरोमणी पं० श्री. गणेशदीक्षितजी (उपसभापति, विशिष्ठमध्यस्थ) (१०) पं० श्री. रामाचार्य जी- (उपसभापति, विशिष्ठमध्यस्थ) (११) पं० श्री. अनन्तरामगुरुजी पटवर्धन (विशिष्ठमध्यस्थ) (१२) पं० श्री. गंगाधरभट चांदेकर (विशिष्ठमध्यस्थ)।

खड़े बायें से:—(१) पं० श्री. उपेन्द्रजी राजहंस व्याकरणशास्त्री अध्यक्षसतुवाबाबा संस्कृत पाठशाला (मंत्री जातीतत्वविवेचिनी, उपमंत्रीसभा, उपमंत्री वक्तृत्वाधिवेशन) (२) पं. श्री.भैरवनाथ पाण्डे (३) पं० श्री० मुकुन्दनाथभट्टराई (व्यवस्थाकारि) (४) पं० श्री. यदुवंशपाठक अध्यापक युवराजकुमारी संस्कृतपाठशाला (मध्यस्थ) (५) श्री हरेकृष्णदातार (व्यवस्थाकारि) (६) पं० श्रीदत्तात्रेय दीक्षितद्रोण प्रचारक काशीप्रान्तीयवर्णाश्रमस्वराज्यसंघ (७) पं० श्री गणपति शास्त्री हेब्बार (प्रधानलेखक मंत्री वेदवेदाङ्गधीवेशन) (८) पं० श्री.रामचन्द्र शास्त्रीमण्डलीकर (मध्यस्थ) (९) पं०श्री रामचन्द्रशास्त्री जोशी (मंत्री वक्तृत्वाधिवेशन, व्यवस्थाकारी) (१०) पं० श्री. जनार्दनशास्त्रीखुण्टे ज्यौतिषाचार्य न्यायरत्न-सम्पादक यशवंत पञ्चाङ्ग (व्यवस्थाकारि) (११) पं० श्रीशम्भुरामजी जानी (१२) पं० श्री० विश्वनाथ शास्त्रीदातार (उपमंत्री व्यवस्थाकारि) (१३) पं० श्री. नीलकण्ठराव जोशी. एम. ए. (१४) पं० श्री रामचन्द्रशास्त्री होसमने (मध्यस्थ, व्यवस्थाकारि) (१५) पं० श्रीकृष्ण शास्त्री-मोकादे व्याकरणाचार्य।

इस उत्सव में विभिन्न शास्त्रों के छात्रों की वाद-प्रतियोगिता (शास्त्रार्थ) आदि उपयोगी कार्यक्रम रक्खे गये हैं। यहां की वाद-प्रतियोगिता में विजय प्राप्त करने वाले छात्रों को पुरस्कार दिया जाता है तथा उन के गुरुओं का सम्मान किया जाता है। यहां से विजय प्राप्त करने वाले छात्र का उस विषय में सर्वत्र आदर होता है। विद्वन्मण्डल में यहां के शास्त्रार्थ का बहुत गौरव है।

इसी प्रकार विद्यालय में श्रीशङ्कराचार्य जयन्ती, श्रीजयदेवाश्रमस्मृति सभा तथा सरस्वती उत्सव समारोह से मनाये जाते हैं। इन उत्सवों में वेदान्त, मीमांसा, और ईश्वर-भक्ति के सम्बन्ध में छात्रों की वाद-प्रतियोगितायें होती हैं। सरस्वती उत्सव में वेदों की तथा अन्यान्य लिखित पुस्तकों की पूजा के द्वारा सरस्वती की उपासना की जाती है।

लक्ष्मणपुस्तकालय–

इस नाम से विद्यालय का अङ्गभूत एक पुस्तकालय स्थापित है। जिसमें बहुत सी दुर्मिल पुस्तकों का सङ्ग्रह किया गया है। पुस्तकालय में हस्तलिखित पुस्तकों के सङ्ग्रह पर बहुत ध्यान दिया जाता है।

गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा–

धर्मशास्त्र के जटिलप्रश्नों के उपस्थित होने पर सिद्धान्तभूत उत्तर पाने की आतुरता धार्मिकों को हो जाती है। उचित उत्तर प्रदान करना एक महापुण्य कार्य है, और इससे धर्म का संरक्षण होता है। इसी धर्मभाव से विद्यालय में श्रीगीर्वाणवाग्वर्धिनीसभा की स्थापना हुई है। जो प्रायः बीस वर्ष से कार्य कर रही है। निःस्वार्थ भाव से यह सभा धर्मशास्त्रीय प्रश्नों पर अपने शास्त्रीय मत का अविच्छिन्न दान करती है।

अब तक सभा ने लगभग २००० दो हजार प्रश्नों के सम्बन्ध में निर्णय किया है। सभा के पास भारत के सभी प्रदेशों से प्रश्न आते रहते हैं। इस सभा का सम्मान सारे भारतवर्ष में है। जिनमें श्रीमान् काशिराज, नेपाल, धवलपुर, ग्वालियर प्रभृति राज्यों की ओर से भी आये हुए प्रश्न हैं। प्रान्तीय सरकारें भी समय समय धर्म-सम्बन्धी प्रश्नों पर यहां से दी हुई व्यवस्था का आदर करती हैं। इस सभा ने 'वेदापौरुषेयत्व' तर्क के आधार पर सिद्ध कर वर्तमान समय की भारी उलझन सुलझाया है।

इस सभा ने केवल धर्मशास्त्र ही तक सीमित न रह कर, राजनीति प्रभृति व्यवहार शास्त्रोंमें भी सराहनीय कार्य किया है। इस सभा के द्वारा अ० भा० वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के अ० भा० विद्वत्परिषद् का भी बड़ा उपकार हुआ है। अ० भा० परिषद् की कार्यकारिणी समिति का भी कार्य विद्यालयीय श्री गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा करती है। कार्यकर्तागण तत्परता से कार्य करते रहेंगे तो आशा है कि यह सभा किसी दिन उच्चकोटि के न्यायालय का स्थान ग्रहण कर सकेगी।

यहां की विशेषताएं—

इस समय की मुख्य आपत्ति यह है कि वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विज्ञान के चमक दमक का सहारा लेकर बुद्धिभेद उत्पन्न कर दिया गया है। फलतः वेदाध्ययन में उत्साह होता ही नहीं फिर 'नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रम्'' की स्थिति आ गई है। सर्व विनाशकारी इस बुद्धिभेद को हटाने के लिये बौद्धिक तुमुल संग्राम की अपेक्षा होती है। जिसमें व्यूहरचनाके क्रमसे समस्त वेद हृदय के समान मध्यवर्ती होकर सब को शक्ति-सञ्चार करते हैं। और शेष उपवेद (धनुर्वेद, गान्धर्व, आयुर्वेद प्रभृति),पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, आन्वीक्षिकी प्रभृति चतुर्दश विद्यायें तथा चतुःषष्टि कलायें चारो ओर से वेदमहापुरुष पर आनेवाले कुतर्क-असम्भावना प्रभृति अस्त्रों का दलन करती हुई वेद के विमल ज्योति का मार्ग प्रोज्वल बनाती हैं। यहां का सारा अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचार इसी दृष्टि से होता है। सभी अङ्गविद्याओं का विनियोग वेद संरक्षण में करने की योजना इस विद्यालय की मुख्य विशेषता है। यह मानी हुई बात है कि केवल वेदाक्षरराशि के कण्ठस्थ करने मात्र से वेदकी रक्षा नहीं कही जासकती; जब तक ऊपर कहे गये प्रकार से समस्त अङ्ग विद्याओं के प्रबल उद्योग से बुद्धिभेद का राहूपराग न हटाया जाय। तात्पर्य यह है कि किसी शास्त्र विशेष में परीक्षा उत्तीर्ण कर नौकरी करने के उद्देश्य से नहीं, प्रत्युत शास्त्रोक्तविधान के अनुसार वेदरक्षा, धर्मरक्षा और देशरक्षा के उद्देश्य से यहां अध्ययनाध्यापन होता है। प्रबन्ध को सब से बड़ी विशेषता यह है कि अध्यापक एवं छात्रों को विद्यालय के सम्बन्धमें ममता का भाव रहता है। अपना निजी कार्य है, इसी भावना से पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करते हुए कर्तव्य बुद्धि से कार्य करते हैं। उन का सम्मान प्राचीन शिष्टपरम्परा के अनुसार दक्षिणा, वर्षाशन एवं पुरस्कार के द्वारा किया जाता है। भृति या मासिक वेतन को आधुनिक रीति को यहां आश्रय नहीं दिया गया है।

विद्यालय प्रबन्ध-सम्बन्धी दूसरी यह विशेषता आदर्शरूप है कि विद्यालय में वैदिक संस्कृति को हर प्रकार से प्रोत्साहन देने का विधान यथासम्भव रक्खा जाता है। यहां तक की विद्यालयभवन में विद्वान, वैदिक, महात्माओं तथा प्राचीन मर्यादा के संरक्षकों के ही चित्र ससम्मान रक्खे गये हैं। प्रायः इस प्रकार का संग्रह भारत में यह अद्वितीय है।

उपर्युक्त समस्त विशेषताओं की भी विशेषता जो इस महाविद्यालय को प्राप्त है वह यह है कि इसके विद्याविभागाध्यक्ष हैं-शास्त्ररत्नाकर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डितराज श्री राजेश्वर शास्त्री द्राविड महोदय विद्यालय के ध्येय के साथ आपने अपने प्राणों को भी लगा रक्खा है।

वर्ष में जब कभी विद्यालय के ध्येय के अनुसार वेदों के अथवा धर्म के सम्बन्ध में जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं तो आप शरीर की परवाह न कर महीनों व्रतोपवास के द्वारा आध्यात्मिक बल से

इस संस्था के अध्यक्ष

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र शास्त्ररत्नाकर—

पण्डितराज श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविड।
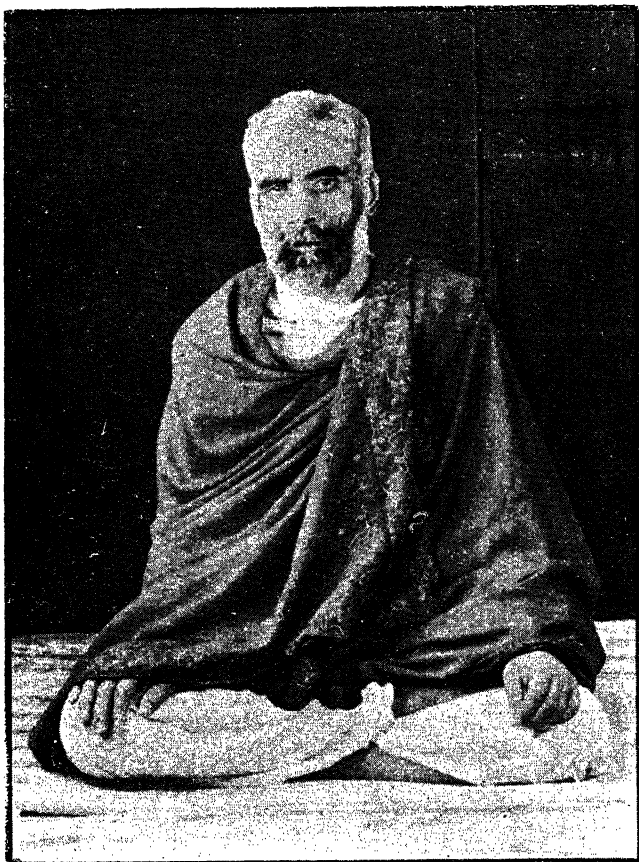
Sarvatantraswatantra Shastra Ratnakar —

PANDITRAJ SHRI RAJESHWAR SHASTRI DRAVID.

Honorary Principal of the Institution.

उसे हल करते रहते हैं। निरपेक्ष भाव से वेदों के लिये प्राण की बाजी लगाने वाले श्री कुमारिल भट्ट प्रभृति का नाम इतिहासों में पढ़ते थे, उस बात का स्मरण आपकी गति-विधि देखकर आया करता है। यह बात प्रसिद्ध है कि आप प्रथम नैयायिक हैं। मध्य-कालीन नव्य न्याय के अभ्यासी विद्वानों की प्रसिद्धि एक प्रकार की ऐसी है कि वे व्यवहारातीत होते हैं इसी बात को लेकर 'अवच्छेद-कावच्छिन्न" की हंसीभी कुछ आधुनिक व्यवहार-कुशल समझे जाने वाले लोग उड़ाया करते हैं। परन्तु वर्तमान युग के नैयायिक चूडामणि श्री शास्त्री जी ने न्याय शास्त्र के शास्त्रत्व को प्रकाश में ला दिया है। सत्य बात तो यह है कि न्यायशास्त्र शास्त्रों का भी शास्त्र कहा जाता है जिसका वर्णन इस प्रकार है—

मोहं रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धिं
सूते च संस्कृतपदव्यवहारशक्तिम्।
शास्त्रान्तराभ्यसनयोग्यतया युनक्ति—
तर्कश्रमो न कुरुते कमिहोपकारम्॥

इतना कहने का उल्लास केवल इस लिए होता है कि—वस्तुतः वेदरक्षा के लिए अङ्ग-विद्याओं के विनियोग करने का आदर्श इस समय आप के ही द्वारा स्थापित हुआ है और इसी से विद्यालय ने आशातीत सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार विद्यालय अपने वेदरक्षा के कार्य में सर्वत्र जो गौरव प्राप्त कर रहा है वह पण्डितराज श्री शास्त्री जी की प्रखर विद्या और तप के साथ कार्य-तत्परता का परिणाम है, इस बात को प्रायः सभी लोग जानते हैं इस प्रसङ्ग में आपके गुरुवर्य अप्रतिममूर्ति म० म० न्यायाचार्य महाशय श्री वामाचरण भट्टाचार्य की स्मृति अत्यन्त पुण्यप्रद है।

विद्यालयमें प्राचीन आदर्शों पर पूर्ण ध्यान रक्खा जाता है तदनुसार पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण दोनों समय छात्रगण गुरुओंके पास विधिपूर्वक अध्ययन करते हैं। पूर्वाह्णमें यह विशेषता होती है कि सर्वप्रथम श्रीगणेशजी के सन्निधिमें सब लोग एकत्र होकर स्तोत्रात्मक प्रार्थना करते हैं उसके बाद पढ़ाई प्रारम्भ होती है।

इसी प्रसङ्ग में विद्यालय की यह विशेषता भी उल्लेखनीय है कि यहां के अध्यापक-मण्डल में सभी अध्यापक अपने अपने विषयमें पारंगत धुरन्धर विद्वान तथा सदाचार-परायण हैं। कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो स्वयंसेवक भाव से अध्यापन करते हैं। उनका आदर्श विद्यालयके लिये बड़े गौरव की बात है।

इस महाविद्यालय के कार्योंको फलाफल की दृष्टिसे देखते समय यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि हिमालय की पर्वत-मालाओं के मध्य उग्रवेग से बहने वाले गङ्गा प्रवाह के विपरीत दो हाथ प्रदेश पार करना प्रवाह के अनुकूल जानेवालों के २ लाख गज से भी अधिक महत्त्व रखता है।

आज दिन पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतीप प्राचीन आदर्श पर आगे बढना गजेन्द्र और ग्राह के युद्ध से कम कठिन नहीं है। ऐसी स्थितिमें भी यह विद्यालय अपना कार्य प्राचीन आदर्श पर अग्रसर कर रहा है, यह बात संस्थापकोंके अमोघ पुण्य और आप महानुभावों की कृपाका परिचायक है।

धन्यवाद-

धर्माचार्य चरणों का शुभाशीर्वाद इस महाविद्यालय को सदा सम्बर्द्धित करता है। आज भी श्रीचरणों का सन्निधान ही सब प्रकार का सामर्थ्य प्रदान करता हुआ कार्यको सफल बना रहा है। इस लिये इन चरणों का संस्मरण कृतज्ञता के किन शब्दों में किया जाय कह नहीं सकते।

"आन्वीक्षिकीत्रयीवार्ताः सतीर्विद्याः प्रचक्षते।
सत्योऽपि हि न सत्यस्ता राजनीतेस्तु विभ्रमे॥
राजनीतिर्यदा सम्यङ्नेतारमधितिष्ठति।
तदा विद्याविदः शेषा विद्याः सम्यगुपासते॥"

इस उक्तिके अनुसार यह मानी हुई बात है कि श्री काशीराज महाराजकी प्रभुशक्तिका अवलम्बन प्राप्त न हुआ होता तो यह पुण्यकार्य इस विकट समय में यहां तक न आ सकता। आगे भी उत्तरोत्तर उन्नतिका पूर्ण विश्वास इसी अवलम्बन पर है, इसलिये इस सुकृत के आधार अध्यक्ष श्री महाराज को हार्दिक धन्यवाद के साथ समस्त धर्माचार्यचरण विद्वद्वृन्द एवं महात्माओं से प्रार्थना करेंगे कि सबकी शुभ कामना हमारे महाराजके उत्तरोत्तर अभिवृद्धिके लिये हो, जिससे कि प्रभुशक्तिके एक केन्द्र होकर, महाराज वेद तथा वैदिकधर्म के उद्धार कार्यसे अद्वितीय आदर्श हों।

इसी प्रकार मेहता-परिवार के सम्बन्ध में भी कहना है कि-इस समय जैसा आदर्श यहां स्थापित हुआ है वह धार्मिक जगत के लिये बहुत बड़ा अवलम्बन है। इस कार्यसे वेद भगवान् की अनुपम सेवा हो रही है।

आप महानुभावों को सर्वेश्वर भगवान् सब प्रकार से सामर्थ्यवान् बनावें यही प्रार्थना है।

विद्यालयके लिये सारी वस्तु एकत्र होने पर भी इसके कार्यों का भार जिनपर है, ऐसे अध्यापकवृन्द, प्रबन्धक तथा छात्रवृन्द अपने २ कार्यों को तत्परता से न सम्पन्न करते तो विद्यालय का मुख्यफल हो ही न सकता, अतः वे बड़े सम्मानके साथ धन्यवादार्ह हैं।

विद्वद्वृन्द, धनी-मानी-सज्जन, शाखा-पाठशाला तथा सहयोगी संस्थाओंका स्मरण बड़े आदर से करते हुये अनेकानेक धन्यवाद प्रदान करते हैं, जिनके सहयोगसे विद्यालय अपने कार्यमें अग्रसर हुआ है।

सब ओर ध्यान देते हुए सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान भगवान् का स्मरण हो रहा है, जिनके कृपा-कटाक्ष एवं शुभ संकल्प से यह सारी शक्तियां एकत्र होकर वेदोद्धार का सफल प्रयास कर रही हैं।

"वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते-
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते—
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

यजुर्वेद
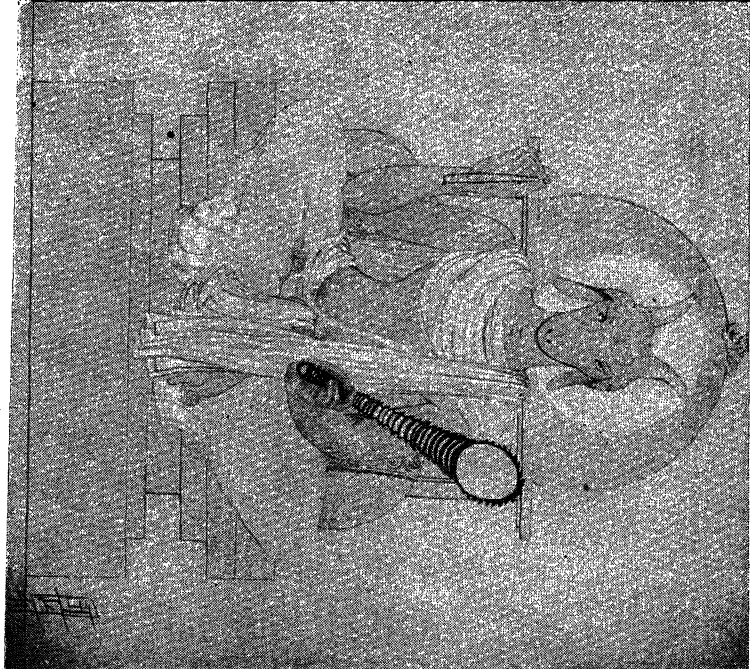
अजास्यः पीतवर्णः स्याद्यजुर्वेदोऽक्षसूत्रधृत् ।
वामे कुलिशपाणिस्तु भूतिदो मङ्गलप्रदः ॥

ऋग्वेद
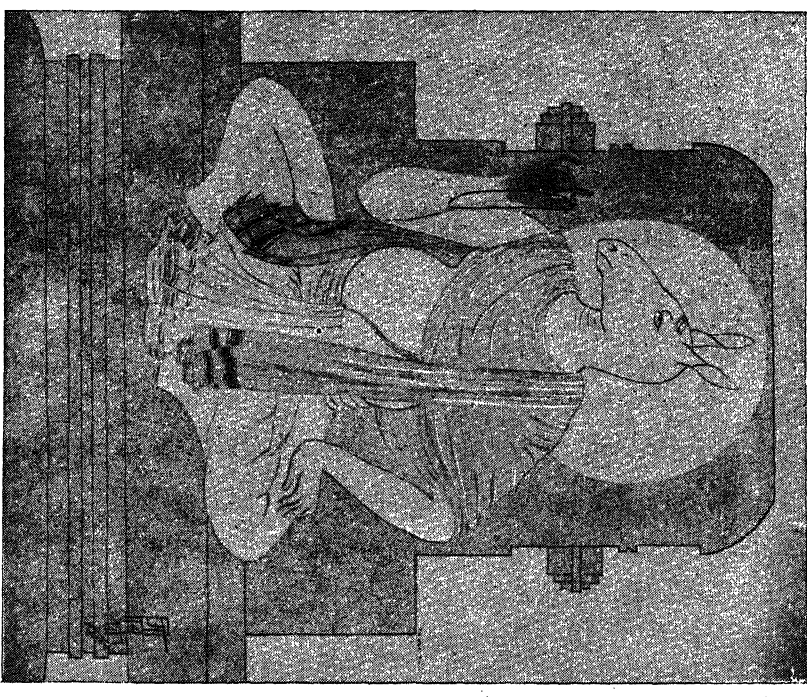
ऋग्वेदः श्वेतवर्णः स्याद्द्विभुजो रासभाननः ।
अक्षमालाधरः सौम्यः प्रीतो व्याख्यापध्नोद्यतः ॥

नाट्यशास्त्र
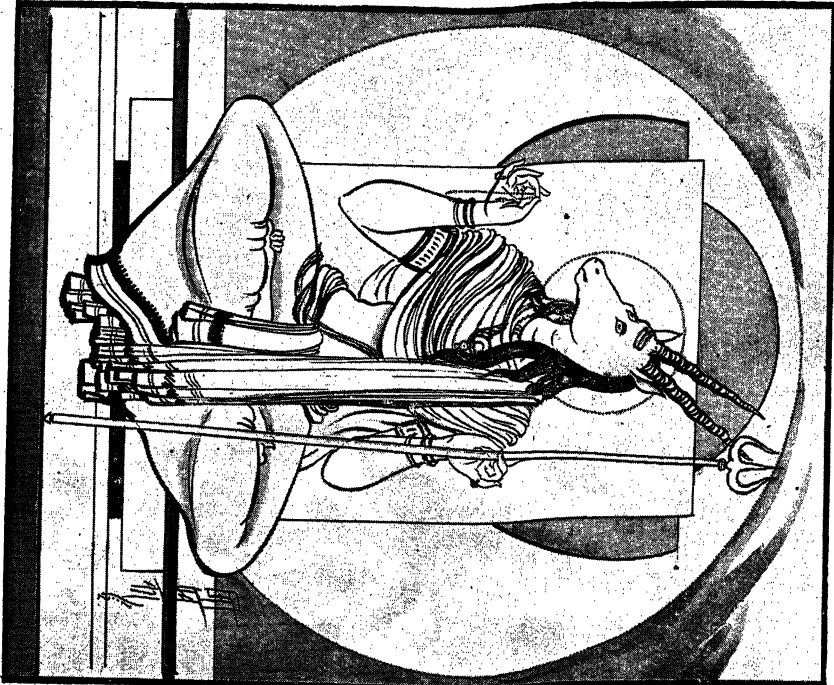
नृत्तशास्त्रमिदं रम्यं मृगवक्त्रं जटाधरम् ।
अक्षसूत्रं त्रिशूलञ्च बिभ्राणं च त्रिलोचनम् ॥

इतिहास ।

इतिहासः कुशाभासः सूकरास्यो महोदरः ।
अक्षसूत्रं घटं बिभ्रत्पङ्कजाभरणान्वितः ॥

शिक्षा
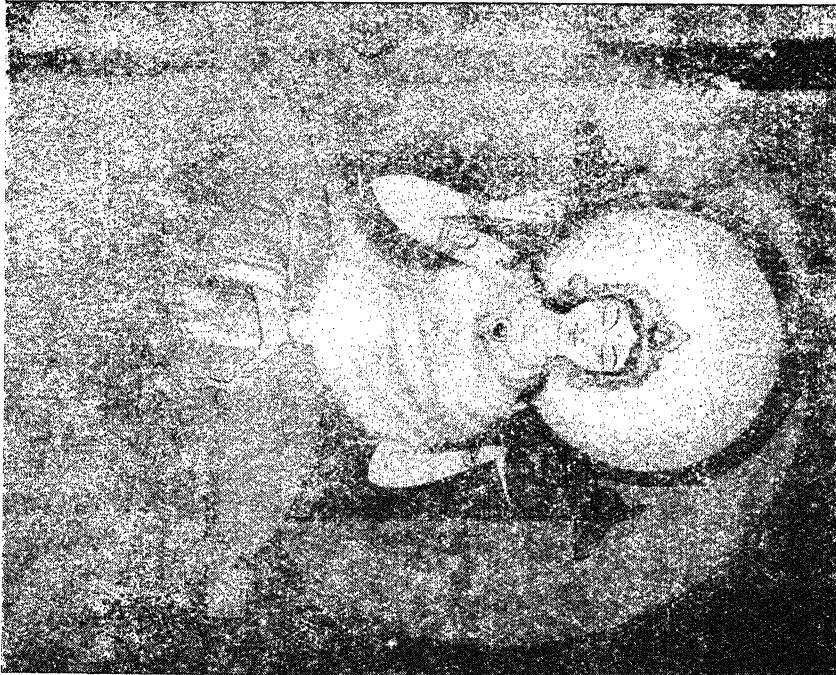
शिक्षा शुभ्राऽभयकरा ज्ञानमुद्रासमन्विता ।
अक्षसूत्रा सकुण्डा च द्विभुजा दण्डपङ्कजा ॥
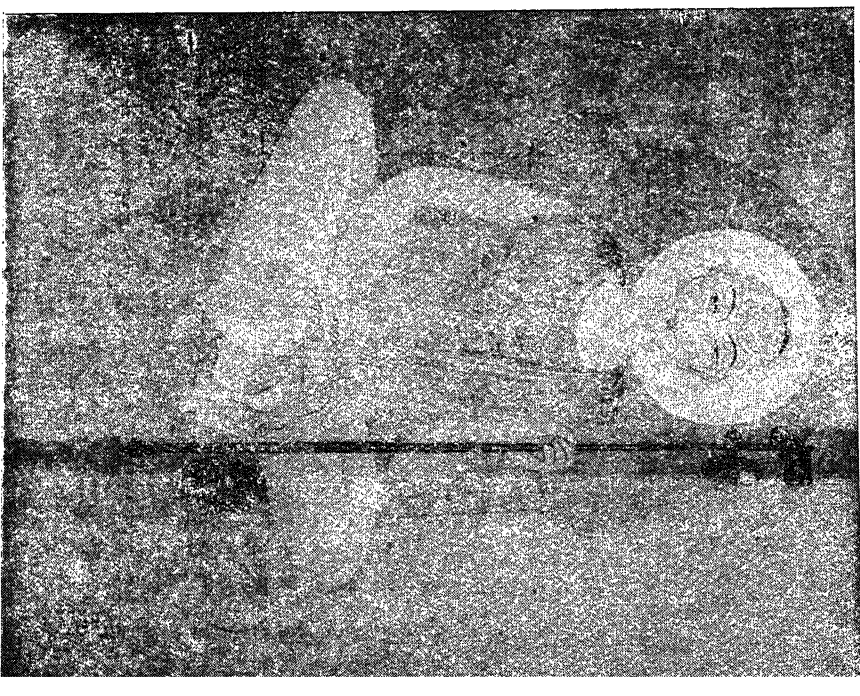
व्याकरण

सितं व्याकरणं ज्ञेयं मयूराभसटोदरम् ।
वीणाकरान्वितं दिव्यं दिव्यवस्त्रविभूषितम् ॥

छन्द
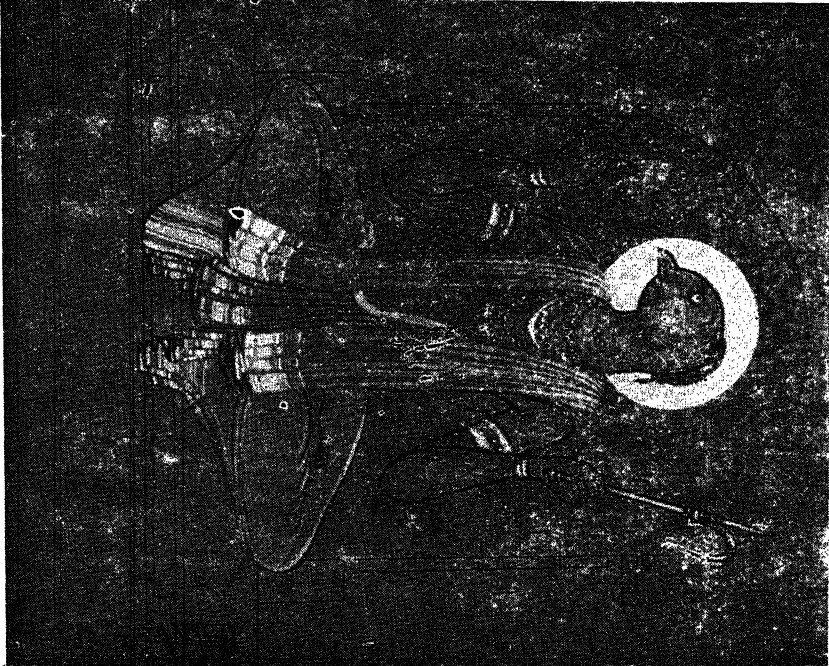
जपाकुसुमसङ्काशं छन्दो ज्ञेयं विचक्षणैः ।
चकोरास्यं जपापुष्पं शक्तिं बिभ्रच्छिखान्वितम् ॥

निरुक्त

इन्दुवन्निर्मलं शान्तं बकवक्त्रं कृशोदरम् ।
पाशपङ्कजसंयुक्तं साक्षसूत्रं सपुस्तकम् ॥

कल्प
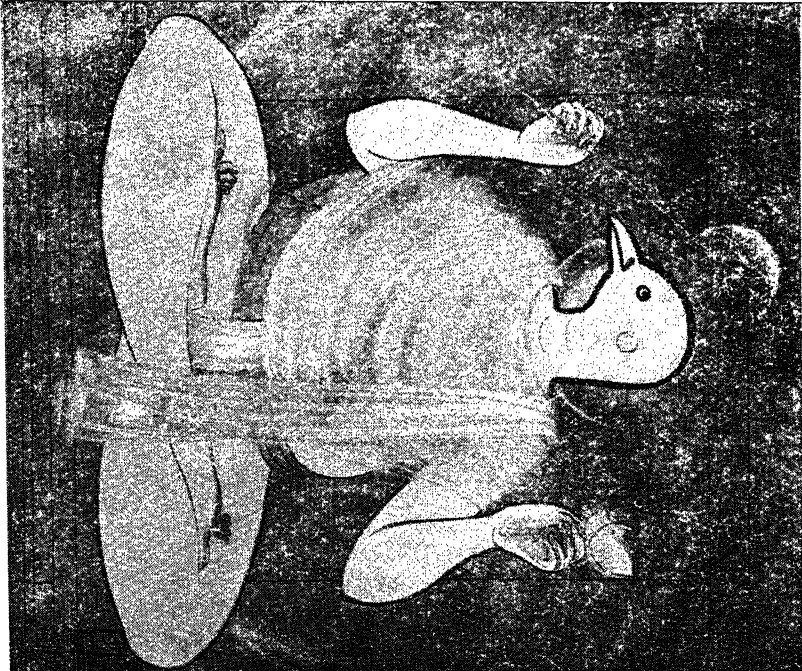
कल्पस्तु कुमुदाभः स्याद्वायसास्यो महोदरः ।
कुठारदण्डाब्जहस्तो मेखलाकुण्डलान्वितः ॥
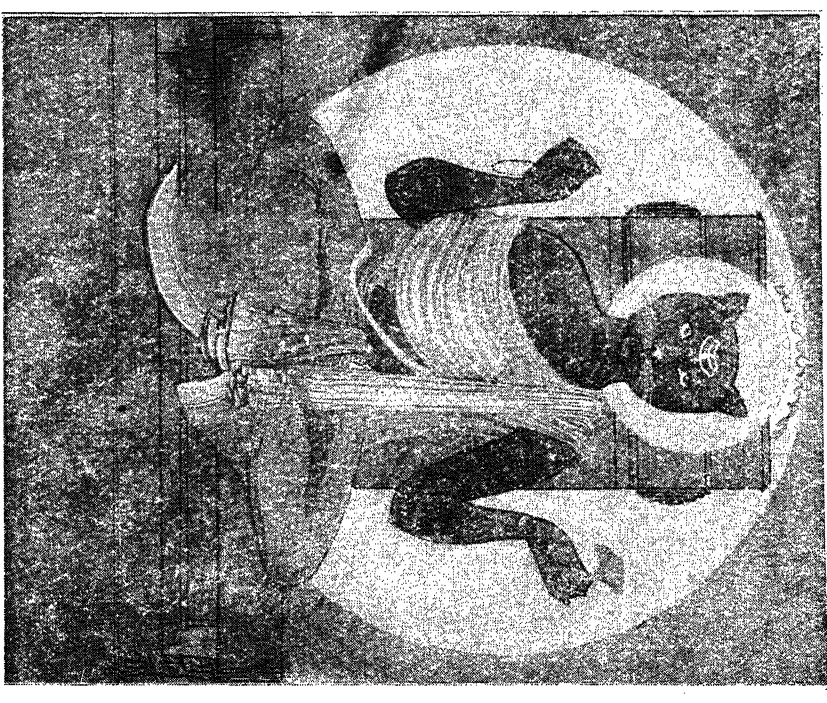
ज्योतिष

ज्योतिषञ्च बिडालास्यमिन्द्रगोपनिभं शुभम् ।
अक्षसूत्रं जपां बिभ्रद्धस्तयोर्दक्षवामयोः ॥

मीमांसा

सोमकीर्तिसमाभासं मीमांसाशास्त्रमुत्तमम् ।
अक्षसूत्रं दधद्दक्षे सुधापूर्णं घटं परे ॥

धर्मशास्त्र
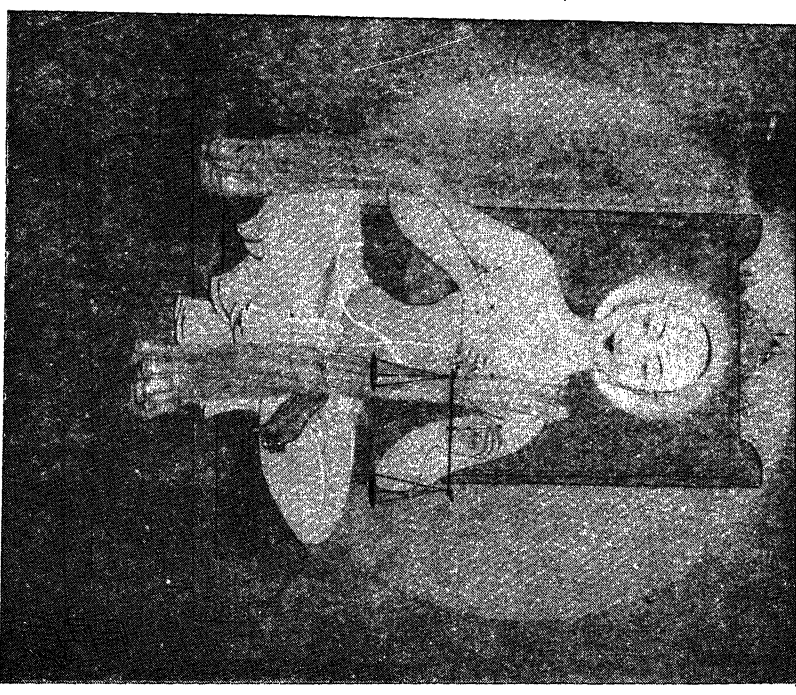
धर्मशास्त्रं सितं शान्तं चारुवक्त्रं कुशासनम् ।
मुक्ताजपाक्षधृक्दक्षे तुलाहस्तन्तु वामतः ॥
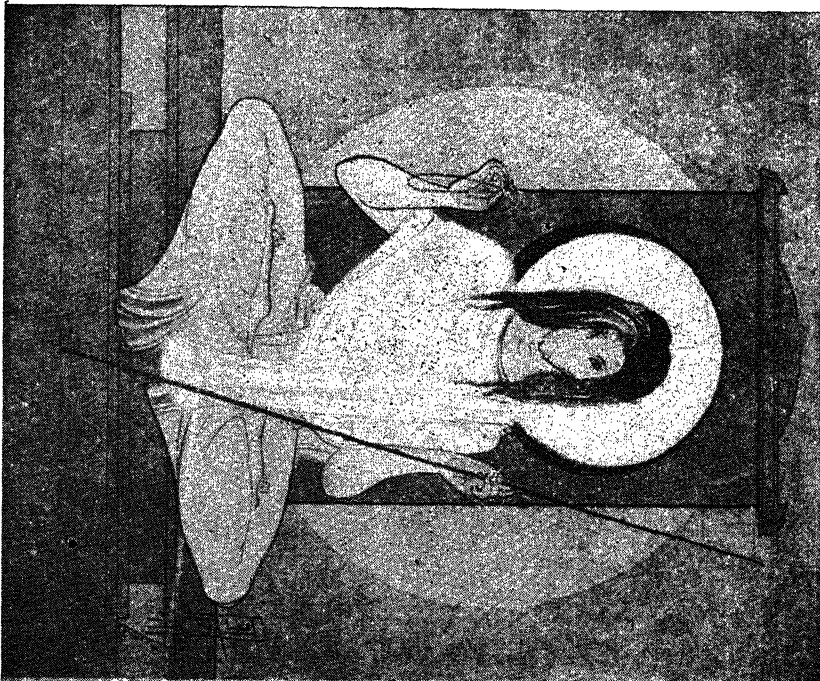
साङ्ख्य

साङ्ख्यं तत्कापिलं बभ्रुवक्त्रमुज्ज्वलकुण्डलम् ।
जाप्यदण्डधरं दीर्घनखलोमजटाधरम् ॥

पातञ्जलयोग
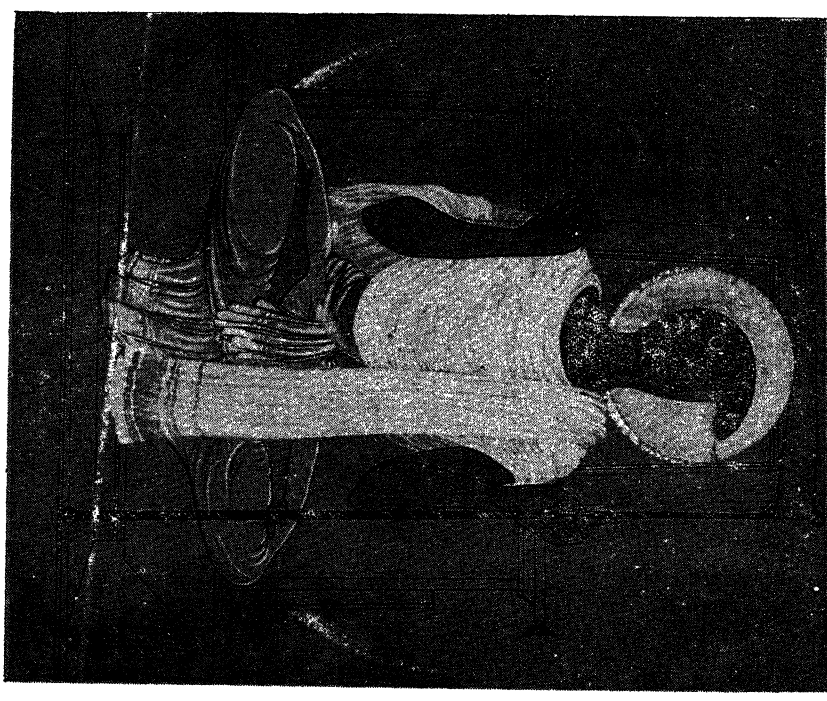
पातञ्जलाभिधं रक्तं सर्पवक्त्रं सुतेजसम् ।
अक्षसूत्रं पताकाञ्च दधतं कुण्डलान्वितम् ॥

चतुःषष्टिकला
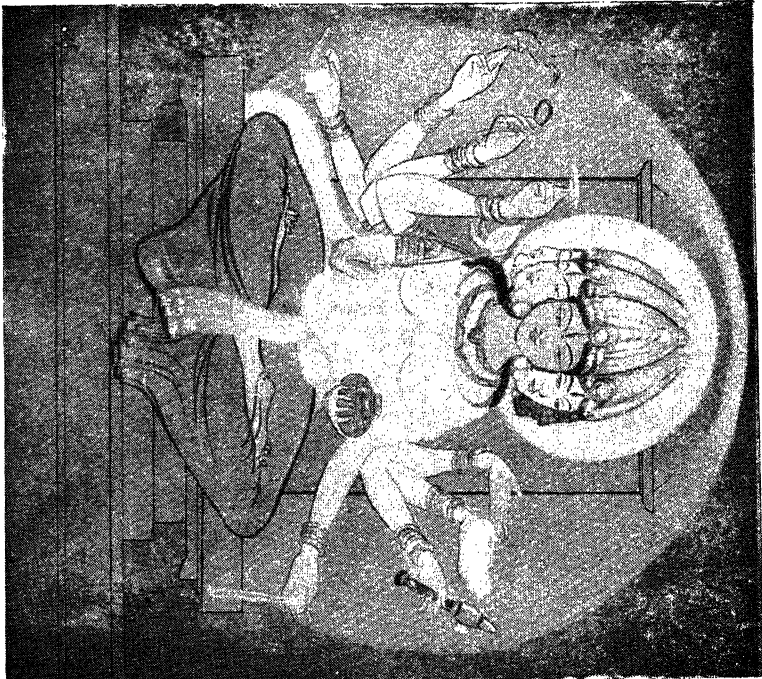
हस्तैः पद्मं रथाङ्गं गुणमथ हरिणं पुस्तकं वर्णमालां ।
टङ्कं शुभ्रं कपालं वरममृतलसद्धेमकुम्भं दधानाम् ।।
मुक्ताविद्युत्पयोदस्फटिकनवजपाबन्धुरैः पञ्चवक्त्रै ।
स्त्र्यक्षै र्वक्षोजनम्रां सकलशशिनिभां शारदां तां नमामि ।।

पुराण

पुराणं चम्पकाभासं शुकवक्त्रं च तुन्दिलम् ।
अक्षसूत्राभयं ज्ञेयं नानाभरणभूषितम् ।।

न्यायशास्त्र

अतसीपुष्पसङ्काशो न्यायो ज्ञेयो विपश्चिता ।
सिंहास्यो दक्षिणे सूत्रं ध्वजं वामकरे दधन् ॥

उद्घाटनीय चित्रों का परिचय।

श्रीरजतजयन्तीमहोत्सव के इस शुभ अवसर पर जिन चित्रों का उद्घाटन श्रीकाशीराज महाराज श्रीविभूतिनारायण सिंहजी बहादुर महोदय के कर कमलों से अभी ही होने वाला है उनका परिचय इस प्रकार है—

प्रथम शिलालेख है जिसमें विद्यालयोरम्भ समय का दिग्दर्शन करानेवाले पद्य हैं। इन पद्यों को विद्यालय के जन्मदाता धर्मप्राण कै० श्रीलक्ष्मणशास्त्री द्राविडमहोदयने निर्मितकर विद्यालय के पुस्तक (रजिष्टर) में लिखवाया था। श्री शास्त्रीजीके हस्ताक्षर भी उसमें हैं।

उसी का शिलालेख, इस महोत्सव के उपलक्ष्य में सञ्चालक महोदयों ने बनवाया है। कागज के लेख से अब शिलापर आया हुआ यह लेख इस बातका परिचायक है कि इस कार्य की दृढ़ता भगवदनुग्रह से भगवान् श्रीकाशी विश्वनाथके साथ है। इस शिला लेखके उपरिभाग में धर्मप्राण श्री शास्त्रीजीकी मूर्ति आज मूर्त आनन्द को देनेवाली महाराज के कर कमलों से उद्घाटित होगी।

दूसरे (२१) चित्र वेद तथा विद्याओं के हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) ऋग्वेद (२) यजुर्वेद (३) सामवेद (४) अथर्ववेद (५) आयुर्वेद (६) धनुर्वेद (७) शिक्षा (८) कल्पसूत्र (९) निरुक्त (१०) व्याकरण (११) ज्यौतिष (१२) छन्द (१३) धर्मशास्त्र (१४) पुराण (१५) इतिहास (१६) न्याय (१७) मीमांसा (१८) साङ्ख्य (१९) पातञ्जल (२०) कला (२१) नाट्यशास्त्र।

इन चित्रों का निर्माण शास्त्रोक्तध्यान के आधार पर हुआ है। ध्यान के श्लोक चित्रों के साथ दे दिये गये हैं। इन चित्रों के उद्घाटन और प्रतिष्ठापन से विद्यालय विद्यामन्दिर का रूप धारण कर रहा है। इस आदर्श को अन्य विद्यालय भी अपनायें तो विद्योपासकों के लिये स्फूर्तिप्रद उत्तम भाव उत्पन्न हो। इन चित्रों का उद्घाटन कर महाराज आज पूर्व महापुरुषों के अभिलषित विश्व विद्यालय के रूपको परिपूर्ण बनायेंगे। प्रतीत होता है कि विद्यालय के पचीस वर्ष की उपासनाओं से सुप्रसन्न हो समस्त बेद और विद्यायें तथा कलायें साक्षात् मूर्त रूप धारणकर आज विद्यालय में प्रकट होने जा रहो

इन चित्रों में आप महानुभाव देखेंगे कि वेद तथा विद्याओं के मुख विभिन्न तिर्यक् एवं पक्षियों के आकार के हैं। इस बातको देख अनेक प्रकार की कल्पनायें बुद्धिमान लोग कर सकते हैं। यह अत्यन्त प्रसिद्ध बात है कि विश्ववन्द्य विघ्नेश्वर गजानन हैं। ऐसे ही वेद और विद्यायें भी मानवेतर मुखाकृति को धारण करते हुये भी विश्वोपकारक एवं विश्ववन्द्य हैं।

उन २ मुखाकृतियों में एक असाधारणता है जिसका वर्णन स्वतन्त्र विषय होगा।

बड़े महत्व की यह बात ध्वनित होती है कि वेद और विद्याओं का आनन्द लोकोत्तर एवं अलौकिक है, जिसके आस्वाद में बाहरी जगत् का दृश्य कुछ भी हो सौन्दर्य का ही प्रयोजक हो जाता है।

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्"

इन मुखाकृतियों में भी वेद और विद्या के लोकातिशायी आनन्दास्वाद को लेने वालों का ध्यान कुछ और ही होता है। जिसमें ये मुखाकृतियां प्रतिबन्धक नहीं हो पाती यही चमत्कार है। इसके अतिरिक्त दो महनीय विद्वानों के चित्र हैं।

प्रथम चित्र नागरज्ञातिभूषण पं० श्री सुन्दरजी दीक्षित ज्योतिर्विद् के पुत्र कै० श्रीरत्नजी दीक्षित का है। आपका जन्म काशी में संवत् १६०० के पौष शुक्ल त्रयोदशी मङ्गलवार के दिन हुआ। आपने वे० श्रीवामनभट्टजी से वेद तथा अपने पूज्यपिता जी एवं पं० श्रीलक्ष्मणजी से ज्यौतिष और मन्त्रशास्त्र का अध्ययन किया था। एक्कीस वर्ष की अवस्था में पं० चन्द्रदेवजीके साथ ग्वालियर जाकर आपने स्वरशास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया। सैंतीस वर्ष की अवस्था में अपने पिता के कैलासवास के बाद से, उनके प्रवर्तित पञ्चाङ्ग को आपही आजीवन निर्माण करते रहे आप विलक्षण प्रतिभासंपन्न, उदार, सरल स्वभाव और सभी पर प्रेम रखने वाले थे।

पं० श्रीरत्नजी दीक्षित की ख्याति फलित और मुहूर्त के विचार में विशेष रूप से थी। बड़े २ राजा एवं रईसों से लेकर साधारण जनता तक में विशेष आदर था। इस विद्यालय के वर्तमान संचालकों के पूर्वजों की आप पर विशेष श्रद्धा थी। फलतः श्रीसांगवेदविद्यालय का स्थापन आपके बतलाये मुहूर्त के अनुसार हुआ जिसकी रजतजयन्ती आप लोगों के समक्ष आज सोत्साह मनायी जा रही है।

आपके सभी कार्य नियमित एवं समय पर होते थे। प्रातः तीन बजे उठते थे तथा नित्यक्रिया से निवृत्त होकर सूर्योदय के पूर्व अग्निहोत्र करने के बाद सात बजे तक वेदपाठ करते थे। इसके बाद बारह बजे तक पञ्चाङ्गीय गणित करते थे। मध्याह्नोत्तर दो से पांच तक अपने व्यवसाय का कार्य करते थे और सायंकाल अग्निहोत्र के बाद रात्रि में नौ बजे तक छात्रों को अध्ययन कराते थे। आपके प्रधान शिष्यों में स्वर्गीय पं० जयमंगलदत्तजी तथा पं० नन्दरामजी प्रसिद्ध थे।

आपको पाँच पुत्र तथा एक कन्या हुई परन्तु दैव वश वे जीवित न रह सके। आपका कैलास वास संवत् १६७८ के चैत्र कृष्ण अष्टमी सोमवार को हुआ।

श्रीरत्नदीक्षितोऽसौ दैवज्ञो मान्त्रिकोऽग्निहोत्री च। उदयास्तं यावत् यस्यासीत् कर्म सर्वमपि नियतम्।

श्री० पं० रत्नजी दीक्षित ज्यौतिषी

श्रीरत्नदीक्षितोऽसौ दैवज्ञोमान्त्रिकोऽग्निहोत्री च।
यस्य मुहूर्ते विहितो विद्यालय एष नित्यमभ्युदितः॥

जन्म संवत् १६००] [परलोक सं० १६७८

स्थापन सं· २००२

Pt. RATANJI DIKSHIT.

He was a great Mantra-SHastri and a jyotishi.

म० म० पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री

न्याये मीमांसयोश्चासीत्प्रामाण्यं यद्वचस्तयोः ।
पूज्यसुब्रह्मण्यशास्त्रि पदयोस्तु नमोनमः ॥

जन्म सं० १८६४] [परलोक सं० १९७६

स्थापन सं० १९८०

M. M. Pt. SUBRAMHANYA SHASTRI.

He was a famous scholar of Nyaya, Mimansa and Vedant in his time.

वैद्यराज श्री दण्टु सुब्बावधानी

श्री श्रीनिवासपूर्वत्रिलिङ्गविद्यासुपीठमुख्यतमः ।
श्रीमान् स दण्टुसुब्बावधानिवैद्योऽभिनन्द्यशास्त्ररतिः ॥

परलोक संवत् २०००

स्थापन संवत् २००२
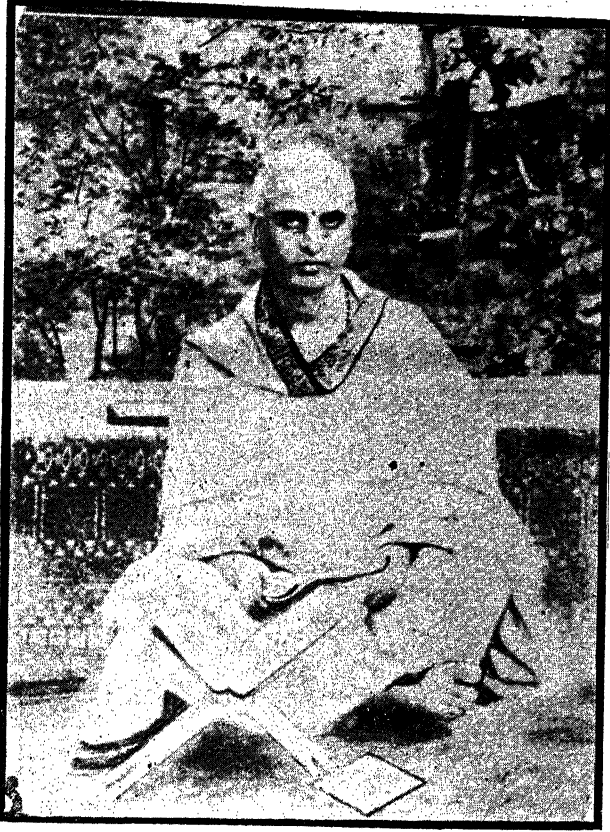
VAIDYARAJ Pt. SHRI DANTU SUBBAVADHANI

He was the Peethadhipati of Tirumal Shri Niwas, Trilinga Vidyapeeth of Bezwada and a reputed Ayurvedic Physician who took keen interest in the other Shastras as well.

श्री० शङ्करभट्टजी इन्दापुरकर

श्रीमान् शङ्करभट्टो वैदिकमुख्योऽतिविश्रुतिं यातः ।
यः पुण्डरीकधामनि धार्मिककार्येऽग्रगश्चतुरः ॥

स्थापन सं० २००१

Pt. SHANKAR BHATTA INDA PURKAR.

He was a great scholar of Sukla Yajur Veda and a Sanatani leader of note at Pandharpur (Bombay Presidency.)

दूसरा

पण्डित श्री वैद्यराज दण्टु सुब्बाधानी का है आपका जन्म आन्ध्रप्रदेश कृष्णागोदावरी मण्डल के "नुजविडू" नाम के ग्राम में हुआ था । जन्म से ही आप प्रतिभाशाली थे । आपके पिता श्री वेङ्कटप्पय शास्त्री विद्वान् थे। आपकी शिक्षा और संस्कार बहुत व्यवस्थित रूप से हुये थे । आपने आयुर्वेद की शिक्षा स्वदेश तथा कलकत्ता मेडिकल कालेज में प्राप्त की थी। स्वल्प कालमें आप प्रख्यात विद्वान हुये। कविता में भी आपकी उत्तमप्रतिभा थी। पितृ चरणों के निधन के वाद अपने मातुलों के प्रोत्साहन से बेजवाड़ामें आप वैद्यवृत्तिसे रहने लगे।

आपने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनका नाम इस प्रकार है।

१—कोमेड़ी आफ एरर्स का अनुवाद आंध्रभाषा में 'चित्र माधव'
२—अमृत सन्देश ।
३—अमृत लहरी ।
४—रोलम्बाष्टक । } संस्कृत भाषामय
५—शुकाष्टक ।
६—धेनुपञ्चक ।
७—कविकण्ठोक्ति ।
८—भामिनीविलास । } आन्ध्रभाषामय
९—वकुलमालिका ।

कलाशालास्थापन—

आपने गुरुभक्ति से अपने गुरुदेव श्रीअमृतानन्दनाथ के स्मारक रूप में "अमृतानन्दनाथ सर्वतन्त्रस्वतन्त्रकलाशाला" की स्थापना बेजवाड़ा में की। इस कार्य में आपके सहयोगी गुरुभक्त श्रीचुण्डरु वेंकटरेड्डी श्रेष्ठी महोदय ने एक लाख रुपये का दान किया है। यह एक आदर्श संस्था है।

आपके दो अनुज दण्टु श्रीपार्थसारथि और दण्टु श्रीश्रीनिवास शर्मा हैं। आप दोनों ही विद्वान् हैं।

विद्यालय के मुद्राचिन्ह 'सील' का परिचय—

मुखपृष्ठ पर विद्यालय का मुद्राचिन्ह मुद्रित है। इसमें आदिशेष पर श्रीमन्नारायण विराज रहे हैं। विश्वकल्याण के लिये देवतागण प्रार्थना कर रहे हैं। भगवान अभयदान दे रहे हैं। श्रीमन्नारायण के नाभिकमल से प्रकट होकर ब्रह्मदेव वहां विराज रहे हैं। ब्रह्मदेव के चार हाथों में चार वेद हैं।

उपर्युक्त सारे चित्र के चारो ओर से घेरने वाला वृत्त है। परिधिपर चौदह त्रिकोण कोष्ठक हैं।

जिनमें विद्यायें चारों बेदों के कवच के समान घेरकर बैठी हैं। इनका कार्य वेदों पर होने वाले आक्रमणो से वेद की रक्षा करना है। साथही वेदका तात्पर्य समझाने में सहायता करना भी इनका कार्य है।

पुनः उनके चारों ओर घेरने वाला दूसरा वृत्त है। जिसकी परिधि पर चौंसठ त्रिकोण कोष्ठकों में चौंसठ कलायें हैं। इस प्रकार यह गोल सूर्यमण्डल के रूप में प्रकाशमान है।

नीचे भूमण्डल का मान चित्र है। तन्मध्यवर्ती भारत पर वेद ज्योति की किरणें साक्षात् पड़ रही हैं। वहां से प्रतिबिम्ब निकल कर सारे देश में फैल रहा है।

इस निर्माण का आधार महाभारत में राजशब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में मिलत है। उस जगह सनातन राजनीति शास्त्र का उपक्रम बतलाया गया है। उसमें बतलाये हुये क्रम के अनुसार शिक्षा का क्रम यहां रक्खा गया है।

श्रीदेवनायक-आचार्य,

पं० श्रीदेवनायक आचार्य ।

भारत-विख्यात् वक्ता एवं विद्वान् ।
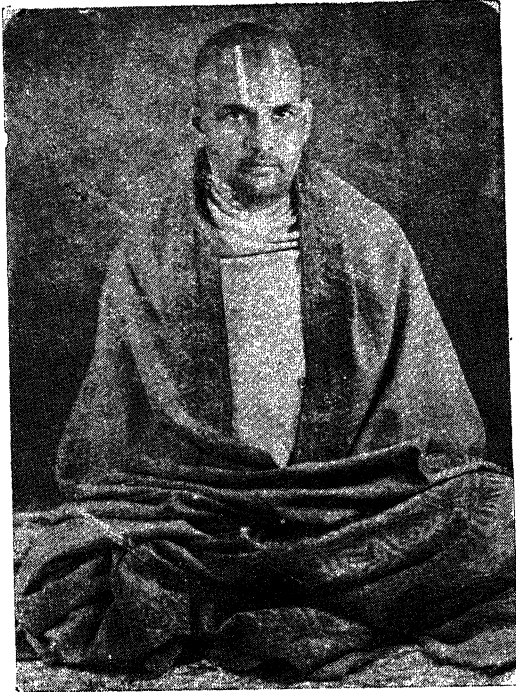
All India renouned orator and Pandit —

SHRI DEVANAYAK ACHARYA.

Honcrary Vyakarna Adhayapak of this institution.

संस्थापक तथा सञ्चालक
मेहता परिवारका
परिचय

स्वर्गवासी वल्लभरामजी "बड़नगरा" नागर ब्राह्मण थे। इनके पूर्व पुरुष गुजरातके रहने वाले थे। परन्तु किसी कारण से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी प्यारी पुरी मथुरामें आकर रह गये थे। अत एव यहां पर ही वैक्रम संवत् १८९६ में इनका जन्म हुआ। ठीक तीन वर्षके बाद इनके भाई स्वर्गवासी शालिग्रामजी का भी जन्म हुआ। दोनों ही बाल्यकाल से धर्ममें अत्यन्त तत्पर थे। ऐसे कुछ दिन बीतने पर संवत् १९१४ में कलकत्ते आये। दोनों महाशय इतने उद्योगी, बुद्धिमान् और चतुर थे कि इन्होंने अल्प ही कालमें लोगों से घनिष्ठता और प्रेम बढ़ाकर व्यापारके द्वारा बड़ी उन्नति करली, और अपने भागिनेय मेहता विहारीलाल जी, हजारीलाल जी तथा किशोरीलाल जी को जयपुर राज्य से बुला लिया और उनके ऊपर सब कार्यका भार न्यस्त किया। इनके कार्योंको देखने से यह निश्चय होता था कि परोपकार और धर्म के लिये ही ये द्रव्योपार्जन करते थे। दोनों भाई बड़े दानवीर थे। श्री शालिग्रामजी ने भी बहुत धन धर्म में लगाया। उनका शीघ्र ही सं० १९६५ के वर्ष में परलोकवास हो गया। अनन्तर सब भार अपने भागिनेय स्वनामधन्य मेहता पं० मुकुन्दरामजी के सुपुत्र जयपुर राज्यके निवासी मेहता विहारीलाल जी, मेहता हजारीलालजी और मेहता किशोरीलाल जी के ऊपर डालकर श्री वल्लभरामजी सदैव ईश्वरचिन्तन में अपना समय बिताने लगे। गृहमें अग्निहोत्र रखकर हमेशा श्री यज्ञ नारायण की सेवा में ही तत्पर रहते थे। अपने चित्त को और वित्तको धर्म-कार्यके सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं लगाते थे। इन्होंने अपने पवित्र जीवन में कितने ही यज्ञ-याग किया। तुलादानादि अनेक दान भी दिये। काशी में श्रीपिशाचमोचन तीर्थ का जीर्णोद्धार किया। काल भैरव मन्दिर में संगमरमर पत्थर लगवाकर खूब दिव्य मन्दिर बनवा दिया। श्रीमङ्गलागौरी के तथा अस्सी पर वनदुर्गाजी के मन्दिर में सिंहासनादि बनवा दिये। एवं अस्सी पर 'गायत्री पुरश्चरण याग' बड़ी भव्यता से किया। ऐसे अनेक पुण्य कार्य इनकी धार्मिकता और उदारताकी स्मृति सदैव जागृत रखने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त गुप्तरूप से इन्होंने बहुत दान दिया है। जिस प्रकार इनका जीवन धर्ममय था उसीके अनुरूप इनका अन्तकाल भी हुआ। काशीवासी होने के पहिले काशी में पञ्चदेवों की उपासना में पाँच महायाग किया। फिर ये कलकत्ते नहीं गये। बराबर यहीं रहे। अन्त में संन्यास ग्रहण कर वेदनारायण का श्रवण करते करते सं० १९७४ के आश्विन कृ० द्वादशी के दिन ८१ वर्ष की अवस्था में इस भौतिक देह का त्याग करके कैवल्य धामको प्राप्त हुए।

श्रीवल्लभरामजी ने जो धर्म का दिव्य मन्दिर बनवाया, इस पर कलश रखने का सौभाग्य उनके भागिनेय पं० विहारीलालजी तथा उनके भ्राता किशोरीलालजीको प्राप्त हुआ। उसी परमात्मा की प्रेरणा से इन महानुभावों ने जिस सुविशाल दिव्य भवन में हम लोग आज एकत्रित हुए हैं उसे बनवाया। और यहां पर आप लोगों ने साङ्ग और सार्थ वेदों के अध्ययन और अध्यापन द्वारा श्रीवेद भगवान् की और सनातन धर्म की सेवा हो, इस पवित्र हेतु से अपने मातुल धार्मिक-शिरोमणि स्वर्गीय श्रीवल्लभरामजी और शालिग्राम जी की उज्ज्वल कीर्ति को भारतवर्ष में फैलाने वाले इस 'वल्लभराम–शालिग्राम–साङ्ग-वेदविद्यालय' को स्थापित किया है।

इन महानुभावों ने अन्यान्य बहुत से धर्मकार्य किये हैं, जिनका वर्णन इस विवरण के छोटे कलेवर में करना शक्य नहीं है।

इन लोगों की धार्मिकता का सबसे बड़ा प्रत्यक्ष अनुभव यह होता है कि इनके समस्त कार्यों को उत्तरोत्तर उन्नत रूपसे चलने के लिये भगवान ने इन्हें मेहता श्री मुरारीलालजी, श्रीगिरिधारीलाल जी, श्रीमनोहरलाल जी, श्रीगोविन्दलालजी, श्रीहरिलालजी जैसे पुत्ररत्नों को दिया है। मेहता पं० विहारी-लालजी तथा प० किशोरीलाल जी ने जैसा ऊपर कहा गया है कि 'श्रीवल्लभराम जी के दिव्य मन्दिर पर कलश रखा है' तो इन लोगोंने इस कलश को लोकातिशायी रत्नों से जटित किया है, जिनकी जाज्वल्य-मान किरणें देशको समुज्वल कर रही हैं।

मेहता पं० मुरारीलालजी तथा मेहता पं० गिरिधारीलालजी के संचालन में विद्यालय की बहुत उन्नति हुई है। "विक्रमादित्यवर्षाशन" प्रभृति महान् कार्य आपलोगों के संचालन की पवित्र कीर्ति को बढ़ाने वाले हैं।

कलकत्ते में भव्य भवन का निर्माण आपलोगों ने करवाया है। वेदानुराग का यह उत्तम परिचायक है कि उस भवन का नामकरण एवं उद्घाटन-समारम्भ वेदशास्त्रज्ञ विद्वान् पण्डितराज श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविड महोदय के पवित्र कर-कमलों से हुआ। भवन का स्पृहणीय नाम "वेदलक्ष्मी-विलास" रखा गया है।

आपलोग स्वयं धर्म-कर्मानुष्ठान करने में सदा तत्पर रहते हैं। चातुर्मास्यान्त याग में आर्त्विज्य करने तक की तैयारी मेहता पं० मुरारीलाल जी की है। आपके वेदशास्त्रानुराग एवं योग्यता को देख करही विद्वन्मण्डल ने "वेदशास्त्र-संरक्षक" की पदवी आपको प्रदान की है।

आप महात्मा श्रीवल्लभरामजी, मेहता पं० श्रीविहारीलालजी तथा पं० किशोरीलाल जी प्रभृति बड़ों के भावों एवं मर्यादाओं को भली भांति जानते हुये स्वयं अभिज्ञ, उदार, सरल तथा गम्भीर स्वभाव के हैं।

महता पारवार क बालकवृन्द ।

YOUNG BOYS OF THE MEHTA FAMILY.

मेहता चिरञ्जीव माधवलाल ।

Madhavlal Mehta

मेहता चिरञ्जीव गौरीलाल ।

Gaurilal Mehta
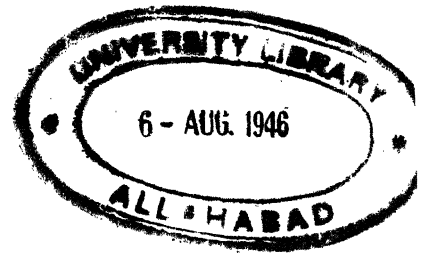
मेहता चिरञ्जीव श्रीलाल ।

Shrilal Mehta.

मेहता चिरञ्जीव दामोदरलाल ।

Damodarlal Mehta.

मेहता चिरञ्जीव गोबर्द्धनलाल ।

Goverdhanlal Mehta.

फलतः अपने उज्ज्वल कुल की मर्यादा के अनुसार आपके वर्तमान समय में भी बहुत से उल्लेखनीय धर्मकार्य हुये और होते रहते हैं।

विद्यालय भवन में "सहस्रचण्डीयाग" बड़े विधान और समारोह से हुआ था, जिसमें स्व० महाराज भी सम्मिलित हुये थे। उस समय का भव्यचित्र पट आज भी उस अनुपम दृश्य को सामने उपस्थित कर देता है।

अभी कुछ ही वर्ष पूर्व इसी स्थान में 'सहस्र-भोजन' इतनी श्रद्धा और विधिसे हुआ कि बड़े वृद्ध भी कहते थे कि ऐसा भावपूर्ण 'सहस्रभोजन' हमने अपनी उमरमें नहीं देखा था।

मेहताजी का धार्मिक हृदय उस पवित्र अनुष्ठान को देख इतना उल्लसित हुआ कि आपने आगे अयुत भोजन (दश हजार ब्राह्मणों को भोजन) कराने का निश्चय किया तदर्थ २५ हजार रुपये की व्यवस्था पृथक् कर दी गई है। उसी समय गरीब अनाथों के कष्ट-निवारणार्थ दान रूप में २५ हजार प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त २५ हजार स्थानीय मृत्युञ्जय महादेव मन्दिरके विस्तारार्थ तथा वड़नगर स्थित श्रीहाटकेश्वर मन्दिरके विस्तारार्थ २५ हजार दिया गया। उपर्युक्त सम्पूर्ण कार्यों में न्यूनाधिक पूर्त्यर्थ और भी २५ हजार रुपये दिये गये। इस प्रकार सवालक्ष रुपयों का आदर्श दान किया गया।

स्वजातीय बालकों को शिक्षण के लिये स्कालरशिप (छात्रवृत्ति) तथा स्वजातीय अनाथ गरीब विधवा स्त्रियों के भरण-पोषणके निमित्त जातीय बन्धुओं ने हाटकेश्वर-कोष स्थापित किया है। उस कोष में ५००००) हजार रुपयों की उदार सहायता मेहता परिवार ने अभी हाल ही में दी है।

मेहता पं० विहारीलाल जी तथा पं० किशोरीलाल जीकी पुण्य स्मृति में कलकत्ता भगवती सर्वमङ्गला का रौप्य (चांदी) मन्दिर निर्मित कराया गया।

इसी प्रकार अन्यान्य धर्म कार्य बराबर होते रहते हैं। कहां तक उल्लेख किया जाय। तात्पर्य केवल इतना ही है कि-मेहता पं० मुरारीलालजी की उदात्त भावना अपनी प्राचीन मर्यादाओं के संरक्षण में आदर्श रूप हैं। वैसे ही मेहता पं० गिरिधारीलालजी प्रभृति आप के बन्धुवर्ग आपके आदर्श को बहुमान देने वाले हैं। बड़े हर्ष और आशाकी बात है कि उत्तर सन्तति भी धर्म भगवान् के अनुग्रह से सुन्दरतासे बढ़ रही है। चि० श्रीलाल, माधवलाल, गौरीलाल, दामोदरलाल, गोवर्धनलाल प्रभृति बालकरत्न सदाचार और विद्या की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। भगवत्कृपा से सब पूर्वजों की पवित्र कीर्ति उत्तरोत्तर बढ़ाने वाले होंगे, ऐसी पूर्ण आशा है।

श्रीगुरुः शरणम्।

विद्यालय के पचीस वर्ष का कार्य-विवरण

संवत् १९७७ तथा सं. १९७८ का विवरण

इस विद्यालय की स्थापना संवत् १९७७ के माघ शुक्ला १३ रविवार को श्रीमान् काशीनरेश प्रभुनारायण सिंह बहादुर महोदय के कर-कमलों से हुई।

इसमें ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद, कृष्णयजुर्वेद, काण्व, साम, अथर्व इन छ वेद तथा व्याकरण एवं न्याय शास्त्र में अध्यापकों की नियुक्ति कर बड़े समारोह के साथ अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया गया। इस विद्यालय की विशेषता यह है कि—अध्यापकों को मासिक वेतन न देकर त्रैमासिक दक्षिणा रूप प्रदानकर, सत्कार करना निश्चित किया गया। पूजनीय धर्मप्राण महामहोपाध्याय श्रीलक्ष्मणशास्त्रीजी तथा पंडितराज श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविड़द्वारा अवैतनिक रूप से कार्य करना स्थिर कर, विद्यालय का कार्य प्रारम्भ हुआ।

इस विद्यालय का यह भी कार्य विशेष वर्णनीय है कि जो विद्वान् निरपेक्ष रूपसे विद्यादान करने में संलग्न हों उनका सत्कार किया जाय। तदनुसार इस वर्ष में ऋग्वेद पाठशालाऽध्यापक वेदमूर्ति रामजी जोशी महोदय को १००) एक सौ रुपये तथा कृष्णयजुर्वेद पाठशालाध्यापक श्री० वे० केशवभट्टजी गोखले महोदयको ५०) पचास रुपये प्रदानकर सत्कार किया गया। इस प्रकार विद्यालयका कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होते हुये सं १९७८ माघ शुक्ला त्रयोदशी को विद्यालय का प्रथम वार्षिकोत्सव काशी नरेश श्रीमान् ५ महाराज प्रभुनारायण सिंह महोदय के कर-कमलों से विशाल आयोजन के साथ सम्पन्न किया गया।

इस वर्ष में उत्तम कक्षा में १५ मध्यम में १६ तथा तृतीय कक्षा में १२ छात्र उत्तीर्ण हुये। इनको क्रमसे ५), ४) तथा ३) पारितोषिक दिया गया।

इस विद्यालय के कार्य से संतुष्ट होकर श्रीमान् माननीय महाराज बहादुरने प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियोंके लिये १६०)रुपये पारितोषिक प्रदान किये। जिससे विद्यार्थियों में बड़ाही उत्साह वर्द्धित हुआ और लोगों में भी विद्यालय का गौरव वृद्धिगत हुआ। अनन्तर २५० वैदिक एवं पण्डितों को दो दो रुपये दक्षिणा प्रदान कर सत्कार किया गया।

रात्रि में कथादि कार्य होकर इस वर्ष का वार्षिकोत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

सम्वत १९७९ का विवरण—

इस वर्ष विद्यालय में महत्व पूर्ण घोषणा यह कर दी गई कि जो विद्यार्थी इस विद्यालय में किसी एक वेद की शाखा को सम्पूर्ण रूप से साङ्ग पढ़कर अर्थ के सहित परीक्षा दे और उत्तीर्ण हो, उसको यावज्जीव १००) एक सौ रुपये प्रतिवर्ष विद्यालय से मिलते जायंगे।

इस वर्ष में इस विद्यालय के संस्थापक और जन्मदाता मेहता पं० विहारीलालजीका अकस्मात् काशीवास होने से सभी को जो मर्मस्पृक् वेदना हुई, उसको लेखनी से प्रकाशित करना दुःसाध्य है।

परन्तु ईश्वर की महिमा बड़ी विलक्षण है। पं० विहारीलालजीका स्थान रिक्त होने नहीं पाया। क्योंकि उनके स्थानको उनके सुयोग्य भ्राता मेहता पं० किशोरीलालजी तथा उनके योग्य पुत्र पं० मुरारीलालजीने पूर्ण कर विद्यालय के कार्य को अग्रसर किया।

ये लोग भी धार्मिक कार्यों में उनसे कम नहीं प्रत्युत आगे ही बढ़े। इन्होंने अपना परिचय कार्य रूप से इस प्रकार दिया है कि यह बात असन्दिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है।

कैलासवासी मामाजीकी तथा पूज्य पिताजीको 'धनुर्गया' इस प्रकार से और उत्साह से इन्होंने की, जो नागर जाति में दो सौ वर्षके भीतर किसीने नहीं किया। करीब २५० रौप्यपात्र ७५) पचहत्तर रुपये भर के वितरण किये।

साथही इन्होंने यह भी घोषणा की कि—आगामी वर्ष से भारतान्तर्गत जहाँ कहीं के विद्वान् इस विद्यालय में सम्पूर्ण वेद की परीक्षा देकर उत्तीर्ण हों तो उनको यावज्जीव ५०) रुपये वर्षाशन दिया जायगा। इस वर्ष भाद्रपद मास में अध्यापक एवं छात्रों ने गणेशोत्सव बड़े उत्साह से मनाया। गत वर्ष के अनुसार इस वर्ष भी माघ शुक्ला १३ को श्रीमान् काशी नरेश की अध्यक्षता में विद्यालयका द्वितीय वार्षिकोत्सव सोत्साह सम्पन्न हुआ। तथा प्रथम श्रेणी में १५, द्वितीय श्रेणी में १६ और तृतीय श्रेणीमें १० छात्र उत्तीर्ण हुये इस वर्ष में विद्यालय ने लुप्त होने वाले अथर्ववेद के उज्जीवन के लिये दो छात्रों को जीविका-पर्याप्त वृत्ति प्रदान कर अध्ययनार्थ नियुक्त किया।

सं० १९८० का विवरण—

इस वर्ष भाद्रपद मास में अध्यापक गण एवं छात्रों के उत्साह से श्रीगणेशोत्सव गणेशचतुर्थी से पाँच रोज तक बड़े आनन्द से मनाया गया। इसमें प्रातः काल तथा सायंकाल वेदपाठियों का वेदपारायण और अपराह्न में विद्यार्थियों का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें काशीके म० म० पं० वामाचरण भट्टाचार्य जी, म० म० पं० नित्यानन्द पर्वतीय प्रभृति विद्वज्जन उपस्थित थे।

विद्यालय में पाठशालीय छात्रों की त्रैमासिक परीक्षा लेना निश्चित किया गया था। तदनुसार प्रथम त्रैमासिक परीक्षा वैशाख में सम्पन्न हुई, द्वितीय त्रैमासिक परीक्षा श्रावण में हुई, त्रितीय त्रैमासिक

परीक्षा कार्तिक मासमें हुई। सभी उत्तीर्ण छात्रोंको निर्दिष्ट पारितोषिक प्रदान किया गया। अनन्तर माघमास में पाठशालीय वार्षिक परीक्षा हुई। माघशुक्ला त्रयोदशी को तृतीय वार्षिकोत्सव श्रीमान् काशीनरेश बहादुर के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। इस वर्ष विद्यालय के सञ्चालक महोदयों ने यह भी निश्चय किया कि अध्ययन काल में सर्वदा आदर्श पुरुषों के चित्रों पर दृष्टि रहे तो विद्यार्थियों में भी वैसी ही विद्या एवं चरित्र सम्पादन करने की भावना जागृत होगी, इस दृष्टि से उत्सव में सभापति महोदय के करकमलों से विद्वज्जनों के तैल-चित्रों का आवरणोन्मोचन किया गया। जिनका परिचय तथा नामावली उद्घाटन संवत् के साथ इसी पुस्तक में प्रकाशित है।

अनन्तर गत वर्ष वेद-पाठियों की परीक्षा लेकर यावज्जीव वर्षाशन देने की जो घोषणा की गयी थी, तदनुसार इस वर्ष ३ वैदिक देशान्तर के तथा तीन काशीके सर्वोच्च परीक्षामें प्रविष्ट हुए, उनमें श्री० वे० बाबादीक्षित ओक एवं श्री० वे० गङ्गाधर भट्ट लेले उत्तीर्ण हुये। इन दोनों को सभापति महोदय के करकमलों से एक दुशाला एवं ५०) पचास रुपये दक्षिणा प्रदान कर सत्कार किया गया।

अनन्तर वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण प्रथम श्रेणी में ३१, मध्यम श्रेणी में १२, तृतीय श्रेणी में २९, छात्रों को श्रीमहाराज के कर-कमलों से प्रतिवर्ष के अनुसार पारितोषिक प्रदान किया गया। सभा विसर्जन होने पर मेहता जी द्वारा प्रतिवर्ष के अनुसार २२५ विद्वज्जनों का सत्कार किया गया।

रात्रि में पं० विनायक वोआ का हरिकीर्तन हुआ। दूसरे दिन रात्रिमें भारताचार्य पं० रमानाथ व्यासजी की कथा हुई, व्यास जी को मेहताजी ने जरीका पीताम्बर पामरी, चान्दीका उपस्कर तथा दश सहस्र रुपये प्रदान किये।

संवत् १९८१ का विवरण

प्रतिवर्षानुसार श्रीगणपत्युत्सव भाद्रपद मास में मनाया गया। प्रतिदिन प्रातः काल और सायं काल वेदपाठियों का वेदघोष और अपराह्न में विद्यार्थियों का क्रम से व्याकरण, न्याय शास्त्रमें परस्पर शास्त्रार्थ और कविसम्मेलन हुआ। इसमें काशीके गण्यमान्य सज्जनों ने सहयोग प्रदान किया।

इस गणेशोत्सव में विशेष रोचकता देखकर सभागत सज्जनों में से अन्यतम पं० गण्डारामजी ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि इसी प्रकार का विद्यार्थि-सम्मेलन, इस वर्ष एक बार और हो। तदनुसार यह सम्मेलन मार्गशीर्ष कृष्ण १४, ३० तथा मार्ग शीर्ष शुक्ल १ को फिर विद्यालयमें किया गया और व्याकरण, न्याय, समस्यापूर्ति में विजयी छात्रों को १५) रुपये पारितोषिक प्रदान किये गये।

अनन्तर माघ में विद्यालय की वार्षिक परीक्षा हुई। इसमें प्रथम श्रेणीमें ३१, द्वितीयश्रेणी में २६, तृतीय श्रेणी में २९ छात्र उत्तीर्ण हुये।

माघ शुक्ल १३ शुक्रवार को विद्यालय का चतुर्थ वार्षिकोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया। श्रीमहाराज बहादुर के करकमलों से स्वर्गीय विद्वानों के तैल-चित्रों का आवरणोन्मोचन किया गया।

विद्यालयीयाध्यापकवर्ग एवं कार्यकर्ता गण
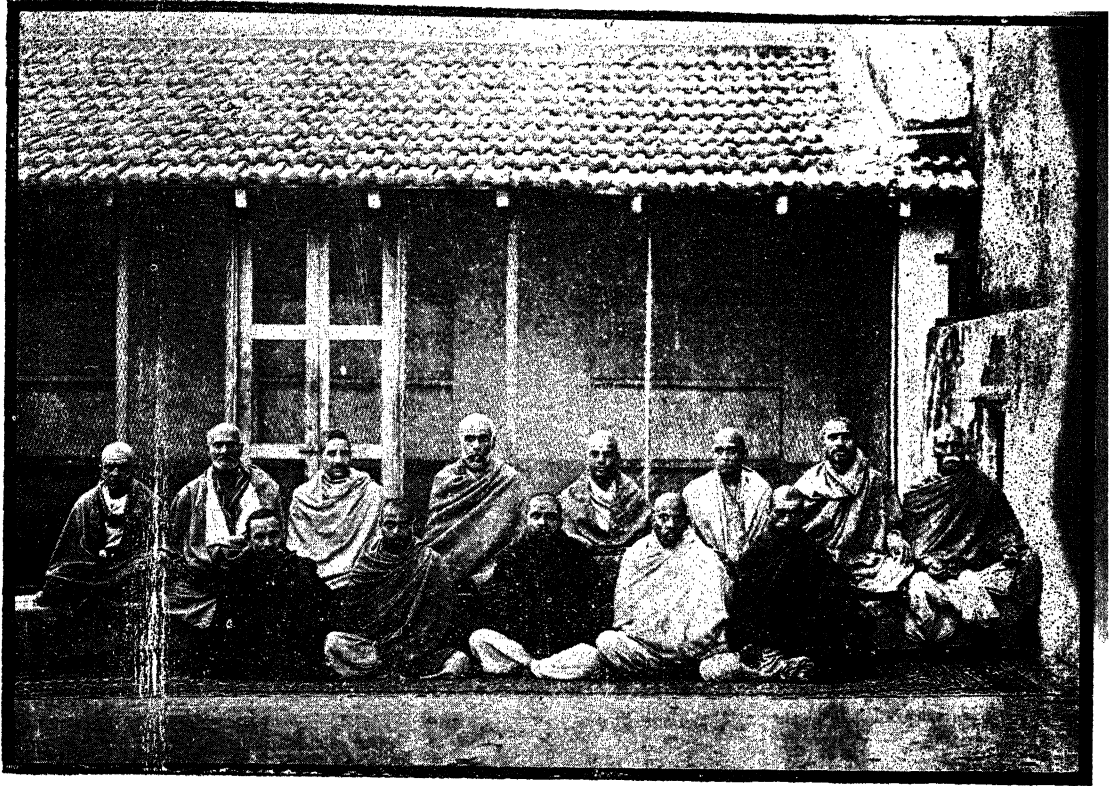
ADHYAPAKAS AND THE WORKING STAFF OF THIS INSTITUTION.

बायेंसे चौकीपरः—(१) वैदिकशिरोमणि पं॰ श्री॰ गणपति दीक्षितजी यजुर्वेदाध्यापक (२) कण्वाचार्य पं॰ श्रीरामाचार्यजी-कण्ववेदाध्यापक (३) पं॰श्री॰ वैकुण्ठ रामजी झा बी, एस, सी,एल, एल बी-प्रबंधक (४) सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शास्त्र रत्नाकर पण्डितराज पं॰ श्री॰ राजेश्वर शास्त्रीजी द्राविड विद्यालयाध्यक्ष (५) पं॰ श्री॰ देवनायकजी आचार्य व्याकरणाध्यापक (६) दैवज्ञवर पं॰ श्री॰ नीलकण्ठशास्त्री-ज्यौतिषाध्यापक (७) पं॰ श्री॰ गोपीनाथ शास्त्री जी मण्डलीकर—प्रथम कक्षाध्यापक (८) पं॰ श्री॰ देवशङ्कर त्रिवेदीजी—सामवेदाध्यापक।

दुसरी पंक्ति बायें से—(१) पं॰ श्री॰ राजाराम जी अटाले—व्यायानाध्यापक (२) पं॰ श्री॰ हरिराम शास्त्री जी शुक्ल न्यायाचार्य न्यायाध्यापक (३) पं॰ श्री॰ मुकुन्दशास्त्री जी पायगुण्डे—पुस्तकालयाध्यक्ष (४) पं॰ श्री गंगाधर भटजी चांदेकर—कृष्णयजुर्वेदाध्यापक (५) पं॰ श्री अनन्तराम गुरु जी पटवर्धन ऋग्वेदाध्यापक।

तथा सर्वोच्च परीक्षोत्तीर्ण वैदिकों को ५०) पचास २ रुपये वर्षाशन दिया गया। प्रतिवर्षानुसार प्रथम तथा मध्यम श्रेणियों में उत्तीर्ण छात्रों को भी पारितोषिक प्रदान किया गया। श्री महाराज के तरफ से चीफ सेक्रेटरी श्रीमान् कर्नल विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह महोदय ने सर्वोच्चपरीक्षोत्तीर्ण वैदिकों को ५०) पचास २ रुपये प्रदान किये।

श्री महाराज की इस प्रशंसनीय उदारता से सभा में बड़ी हर्षध्वनि हुई और उपस्थित सज्जनों ने श्रीमहाराज बहादुर को अनेक धन्यवाद प्रदान किये। अनन्तर प्रतिवर्षानुसार विद्वज्जनों के सत्कारादि कार्य हुये।

संवत् १९८२ का विवरण—

इस वर्ष से विद्यालय में प्रतिपक्ष में विद्यार्थियों की पाक्षिक परीक्षा प्रारम्भ की गयी।

पूज्य लक्ष्मण शास्त्रीजी द्वारा स्थापित काशी में जो 'शंकर पाठशाला' नामका विद्यालय था वह साङ्गवेद-विद्यालय' में इस वर्ष मिला दिया गया। तदनुसार विद्यालय में नौ अध्यापक नियुक्त हुए।

काशी ब्रह्माघाटस्थित-दत्त मन्दिर में जो 'आद्यशंकराचार्य-जयन्त्युत्सव' शिवकुमार शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने चलाया था, वह इस वर्ष से विद्यालय में होना स्थिर हुआ। तदनुसार वै० शु० ५ को शंकराचार्यजयन्त्युत्सव मनाया गया। इसमें प्रातःकाल भगवान की प्रतिमा का पूजन और शङ्कर दिग्विजय का पारायण, अपराह्न में स्थानीय विद्वज्जनों के व्याख्यान, रात्रि में वेदघोष इत्यादि कार्य हुये।

प्रतिवर्ष के अनुसार इस वर्ष भी गणेशोत्सव मनाया गया। इसमें प्रतिदिन क्रम से ज्यौतिष, व्याकरण न्याय और साहित्य में शास्त्रार्थ तथा समस्यापूर्ति हुये। प्रतिवर्षानुसार विजयी छात्रों को पारितोषिक प्रदान किया गया।

इसी प्रकार पं० गण्डारामजी के उद्योग से का० शु० १३ से ४ दिन तक विद्यार्थियों का शास्त्रार्थ हुआ तथा पारितोषिक प्रदान किया गया। यह शास्त्रार्थ लाहौर निवासी श्रीमान् लाला खरायती रामजी के साहाय्य से सम्पन्न हुआ।

माघ कृष्ण में विद्यालय की वार्षिक परीक्षा हुई। इसमें उत्तम श्रेणी में ३२ मध्यम श्रेणी में ४१, तृतीय श्रेणी में १६ छात्र उत्तीर्ण हुये।

इस साल वार्षिकोत्सव माघ शुक्ला त्रयोदशी को न होकर फा० कृ० ४ मंगलवार को मनाया गया, क्योंकि उस समय श्रीमहाराज बहादुर काशी से बाहर गये हुए थे। वार्षिकोत्सव के दिन प्रतिवर्षानुसार प्रातः काल सरस्वती-पूजन, अपराह्न में २ से ५ बजे तक श्री० पं० माधवशास्त्री दातार महोदय का रास-पञ्चाध्यायीपर पुराण रात्रि में वसन्तपूजादि कार्य हुये।

फा० कृ० ४ मङ्गलवार को श्रीमान् काशीनरेश की अध्यक्षता में विद्यालय का पञ्चम वार्षिकोत्सव बड़े समारोह से मनाया गया।

विद्यार्थियों द्वारा मङ्गलाचरण, अध्यक्षद्वारा वार्षिक विवरण पाठ होने पर सभापति महोदय के कर-कमलों से स्व० स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी तथा भारतमार्तण्ड कविवर गट्टूलालाजी के तैलचित्रों का आवरणोन्मोचन हुआ। बाद इस वर्ष सर्वोच्च परीक्षोत्तीर्ण पं० काशीनाथभट्टजी गोडशे महोदय को एक दुशाला तथा ५०) रुपये प्रदान कर सत्कार किया गया। प्रतिवर्षानुसार अन्य भी वर्षाशन पानेवाले विद्वज्जनों का सत्कार करने पर पाठशालीय उत्तीर्ण छात्रों को पारितोषिक प्रदान किया गया। इसके बाद श्रीमहाराज के तरफ से कर्नल विन्ध्येश्वरी प्रसाद महोदय ने उत्तीर्ण हुये वैदिकों को, प्रत्येक को ५०) पचास २ रुपये श्रीमहाराजके तरफसे देने की घोषणाकर विद्यालय के साथ सहानुभूति दिखलाई।

पूज्य श्री लक्ष्मण शास्त्री जी ने वार्षिकोत्सव में यह घोषणा की कि जिस प्रकार वेदमें सर्वोच्च परीक्षा लेकर वर्षाशन दिया जाता है उसी प्रकार प्रत्येक शास्त्र में भी विद्वानोंकी सर्वोच्च परीक्षा होगी। जो महाशय इसको उत्तीर्ण करेंगे, उनको पांच सहस्र रुपये पारितोषिक दिये जायँगे। अनन्तर विद्वत्सत्कार, हरिकथा आदि होकर उत्सव कार्य सम्पन्न हुआ।

सं० १९८३का विवरण—

सं० १९८३ अधिक चैत्र शुक्ल ४ बुधवार को अपराह्ण में कासिम बाजार के महाराज श्रीमान् मणीन्द्रचन्द्र नन्दी महाशय विद्यालय देखने के लिये पधारे और सन्तोष अभिव्यक्त किया।

वैशाख शुक्ल ५ रविवार को धर्मप्राण पू० लक्ष्मणशास्त्रीजी ने गीर्वाणवाग्वर्धिनी नाम की सभा का पुनरुज्जीवन किया तथा प्रतिवर्ष के अनुसार उस दिन श्री आद्यशंकराचार्य जयन्त्युत्सव भी मनाया गया। प्रातः पूजन अपराह्ण में व्याख्यान, रात्रि में वसन्तपूजादि कार्य हुये।

इसमें पं० गण्डारामजी महोदय ने सहायतार्थ २५) रुपये प्रदान किये। भाद्रपद शुक्ल ४ शनिवार से अष्टमी बुधवार तक ५ दिन गणेशोत्सव हुआ। प्रतिदिन प्रातः काल पूजन, वसन्तपूजा, अपराह्ण में विद्यार्थियों का शास्त्रार्थ, रात्रिमें कीर्तन-गायन, पञ्चम दिन गणेशजी की सवारी इत्यादि कार्य हुये। इस वर्ष से धर्मशास्त्र तथा वेदान्त शास्त्रका भी शास्त्रार्थ रखा गया। प्रतिवर्षानुसार उत्तीर्ण छात्रों को पारितोषिक प्रदान किया गया।

इन पारितोषिकों के रुपये श्री पं० गण्डारामजी के प्रयत्न से लाहौर निवासी श्रीमान् लाला खरायती रामजी ने दिये। जिनके विद्यार्थी इस शास्त्रार्थ में उत्तीर्ण हुये उनके अध्यापकों को भी सम्मानरूप से एक २ पीताम्बर पारितोषिक स्वरूप कलकत्ता निवासी पं० विश्ननाथ ठाकुर ने दिये। पुनः कार्तिक शुक्ल

११ से विद्यार्थियों का शास्त्रार्थ हुआ तथा विजयी छात्रोंको पारितोषिक लाला खरायतीरामजी ने ही दिया। विद्यार्थियोंको शारीरिक बल प्राप्त करने के निमित्त मलखम्ब आदि शिक्षा देनेके लिये काशीके प्रसिद्ध व्यायामाध्यक्ष कोण्ड भट्टजी के वंश में मणिस्वरूप श्री० पं० अनन्तरामगुरु गोडबोले नियत किये गये।

माघ शुक्ला १३ को विद्यालय का षष्ठ वार्षिकोत्सव श्रीमान् काशी नरेश के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ।

मङ्गलाचरण, वार्षिक विवरण पाठ के अनन्तर सभापति महोदय के करकमलों से विद्वानों के चित्रों का आवरणोन्मोचन तथा सर्वोच्च परीक्षोत्तीर्ण तञ्जोर जिले के पं० विश्वनाथ घनपाठी, काशी के पं० गङ्गाधर भट्टजी चान्देकर, पं० जगन्नाथभट्ट बर्कले, इन नये विद्वानों को एक २ दुशाला तथा ५०) पचास रुपये और प्राचीन विद्वानों को केवल ५०) पचास रूपये दक्षिणा प्रदान किया गया। तथा श्री महाराज बहादुर के तरफ से भी ५०) पचास २ दक्षिणा प्रदान की गयी। पं० सूर्यनारायण घनपाठीजी को पू० शास्त्रीजीके तरफ से २५) पचीस रुपये तथा १ दुशाला प्रदान किया गया। अनन्तर प्रथम-द्वितीय-कक्षोर्त्त र्ण छात्रों को पारितोषिक दानके बाद सभाकार्य समाप्त हुआ।

इस साल श्रीमान् मेहता पं० किशोरीलालजीने गणेशोत्सव फण्ड में एक सहस्र रुपये प्रदान किये, जिससे स्थायीकोष का निर्माण हुआ।

संवत् १९८४ का विवरण—

वैशाख शु० ५ को श्रीजगद्गुरु आद्य शंकराचार्य महाराज का जयन्त्युत्सव बड़े समारोह से मनाया गया। पूजन, व्याख्यान, हरिकीर्तनादि कार्य प्रतिवर्षानुसार हुये। आज के व्याख्यान में म० म० पं० हाथीभाई शास्त्री, नोरी सुब्रह्मण्यशास्त्री प्रभृति बाहर से पधारे हुये विद्वज्जन भी उपस्थित थे। भाद्रपद शु० ४ से ८ तक श्रीगणेशोत्सव बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। प्रतिदिन प्रातः पूजन और वेदघोष, अपराह्न में पुराण तथा शास्त्रार्थ, रात्रिमें गायन-कीर्तन, रामायण, व्यायाम-कला-प्रदर्शनादि कार्य हुये। विजयी छात्रों को पारितोषिक प्रदान किया गया तथा उनके अध्यापकों का भी सत्कार प्रतिवर्षानुसार कलकत्ता निवासी श्री विश्वनाथठाकुर द्वारा किया गया।

इसी प्रकार कार्तिक शुक्ल १२ से १५ तक विद्यार्थियों का शास्त्रार्थ बड़े उत्साहसे सम्पन्न हुआ।

इस द्वितीय शास्त्रार्थ को प्रोत्साहन से चलाने वाले पं० गण्डारामजी तथा द्रव्य-साहाय्य करने वाले लाला खरायती रामजी का स्वर्गवास हो जाने से इस शास्त्रार्थ का भविष्य शिथिल हो गया।

आश्विन नवरात्र में तीन दिन पर्यन्त भगवती सरस्वती देवी का उत्सव भली प्रकार से मनाया गया।

श्रीमान् पण्डित प्रवर म० म० पं० अनन्त कृष्ण शास्त्रीजीके उद्योग से म० म० पं० नित्यानन्द पर्वतीयजीके सभापतित्व में शारदा-बिलके प्रतिवाद स्वरूप महती सभा विद्यालय में हुई।

तीस विद्यालयीय छात्रों को सिद्धेश्वरी क्षेत्र वासी श्री पं० शिवचरण जोशीजीने दिनमें अन्न देने की व्यवस्था की तथा रात्रि में पञ्चगङ्गेश्वर मठाधीश श्री ब्रह्मानन्द सरस्वतीजीने ३० छात्रों को अन्न देने की व्यवस्था की।

विद्यालय के समीप ही लछमन नामका तंबोली पान की दूकान करता था उसने अपने दो किता मकान ट्रस्टी नियुक्त कर धर्मार्थ कर दिये थे। उसमें आमदनी न होने के कारण दोनों मकान जीर्ण होकर नष्ट होने की दशामें प्राप्त हुये थे। ऐसे समय ट्रस्टियों ने वे दोनों मकान पू० लक्ष्मण शास्त्री जी को छात्रावास के लिये प्रदान किये। ट्रस्टीगण पं० रामेश्वरशास्त्री सराफ तथा पं० गोपालजी नागर थे, जो विद्यालय के व्यवस्थापक भी थे। पं० गोपालजी नागरने ४५ दिनमें इनका जीर्णोद्धार कराया तथा धर्मप्राण श्रीलक्ष्मण शास्त्रीजी के गुरुवरों के स्मारक में एक का नाम 'कैलास-भवन' और दूसरे का नाम 'सुब्रह्मण्यभवन' रख कर, सभापति द्वारा उनका उद्घाटन समारम्भ हुआ।

गत वार्षिकोत्सव में घोषणा की गई थी कि जो अध्यापक घरमें पढाते और धर्मनिष्ठ हैं, उनके छात्रों को पाठशालीय परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर १०) दस रुपये अध्यापक को दक्षिणा तथा छात्रको १) रुपया प्रदान किया जायगा, तदनुसार निम्न लिखित अध्यापकों का सत्कार किया गया।

श्री० पं० नरेन्द्रकुमार काव्यतीर्थ श्री० पं०नारायणाचार्य द्राविड, श्री० पं० शरच्चन्द्र काव्य स्मृति-तीर्थ, श्री० पं० रजनीकान्त विद्यारत्न, श्री० पं०-ताराचरणभट्टाचार्य, श्री० पं० कमलकृष्ण स्मृतितीर्थ, श्री० पं० श्यामाकान्त तर्कपञ्चानन, श्री० पं० रामचन्द्र पाठक, श्री० पं० रामाचार्य श्री० पं० आशुतोष भट्टाचार्य।

फाल्गुन शुक्ल १ बुधवार को विद्यालय का सप्तम वार्षिकोत्सव श्रीमान् काशीराज की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। मङ्गलाचरण वार्षिक विवरण पाठ के बाद सभापति महोदय के करकमलों से स्वर्गीय विद्वानों के तैल-चित्रों का आवरणोन्मोचन किया गया। अनन्तर इस वर्ष सर्वोच्चपरीक्षोत्तीर्ण पं० सुब्रह्मण्य घनपाठी जी को दुशाला तथा ५०) रुपये एवं अन्य विद्वानों को प्रतिवर्षानुसार वर्षाशन प्रदान किया गया। श्रीमहाराज बहादुर के तरफ से भी उक्त विद्वानों का सत्कार किया गया। बाद में प्रथम मध्यम-कक्षोत्तीर्ण छात्रों को भी पारितोषिक प्रदान किया गया।

सभाविसर्जन होने पर २२५ पण्डितों का भी प्रतिवर्षानुसार सत्कार किया गया।

रात्रि में पं० विनायक बोआ का हरिकीर्तन तथा पं० व्रजभूषण जी का रामायण हुआ।

संवत् १९८५ का विवरण—

इस वर्ष काशी पण्डित-सभा और धर्म-सेवक-संघ की स्थापना की गयी।

१९८५ चैत्र शु० ९ के दिन श्री मिथिलेश की अध्यक्षता तथा काशीके समस्त पण्डितों की उपस्थिति में किये गये प्रस्तावानुसार इस विद्यालय में पण्डित सभा की स्थापना हुई, इसमें काशी के गण्य-मान्य सभी पण्डितों ने सदस्यता स्वीकार की है।

इसी सभा की ओर से 'धर्म-सेवक-संघ' स्थापित हुआ है, जिसमें काशी की संस्कृत-पाठशालाओं के छात्रों ने सहर्ष अपना नाम लिखा कर सेवा करने में अपने को समर्पण किया। इसी संघने ब्राह्मण महासम्मेलन के समय अतिथियों की सेवा तथा अन्यान्य सेवा कार्य कर संस्कृत छात्रों में उच्चतम आदर्श स्थापन किया।

गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभाने भी प्रतिपक्ष में सभायें करके गम्भीर विषयों पर विवेचना कर, अपने अमूल्य निर्णय प्रकाशित किये।

नियमानुसार वैशाख शुक्ल ५ को जगद्गुरु आद्यशंकराचार्य जी का जयन्त्युत्सव बड़े समारोहसे मनाया गया। प्रातः पूजन, वसन्तपूजा, शंकरदिग्विजयका पुराण, अपराह्न में म म० पं० भाऊशास्त्री बझे जी का प्रवचन तथा रात्रिमें हरिकीर्तनादि कार्य हुये।

श्रावण अधिक मास में विद्यालय के सञ्चालकोंने बड़े उत्साह से ब्राह्मणोंका भोजन तथा विद्वानों का सत्कार कार्य किया।

भाद्र शुक्ल चतुर्थीसे ८ तक गणेशोत्सव बड़े धूम-धाम से मनाया गया। प्रतिदिन प्रातःकाल पूजन, वसन्तपूजा, अपराह्न में पुराण विद्यार्थियों के शास्त्रार्थ, तुलसीकृतरामायण की कथा, व्यायामकला प्रदर्शन इत्यादि कार्य हुए।

विद्यार्थियोंका शास्त्रार्थ श्री० पं० काशीरामजी इन्स्पेक्टर महोदय की अध्यक्षता में संपन्न हुआ, आपको विद्वज्जनोंने 'विद्यारत्न' पदवी प्रदान की।

इसमें काशीके रईस श्रीमान् रायकृष्णजी ने १५५) रुपये प्रदान किये तथा प० प० ब्रह्मानन्द सरस्वती जी ने १०) रुपये प्रदान किये। आश्विनशुक्ल में नियमानुसार सरस्वती उत्सव मनाया गया।

धर्माचार्यों का पधरावनी और प्रतिनिधियोंका सत्कार—

कार्तिक कृष्णपक्ष में श्रीमान् मे० पं० किशोरीलालजी तथा श्री० मे० पं० मुरारीलाल जी ने अखिल भारतीय ब्राह्मण महासम्मेलन में सम्मिलित हुये जगद्गुरु श्री १०८ शंकराचार्य शारदापीठ, श्री १०८ शंकराचार्य गोवर्धनपीठ, श्री १०८ यदुगिरि यतिराज सम्पत्कुमार मुनि रामानुजाचार्य, श्री १०८ प्रतिवादिभयङ्कर अनन्ताचार्य, श्री १०८ नाथद्वाराधिपति गो० दामोदरलालजी महाराज, काकरौली के गो० श्री १०८ व्रजभूषणलालजी महाराज, मथुराके गो० श्री १०८ विट्ठलनाथ जी महाराज, काशीके गो० श्री १०८ मुरलीधरलाल जी महाराज, अहमदाबादके गो० श्री १०८ मधुसूदन लालजी महाराज, कुकुरमुण्डा संस्थानाधिपति श्री सन्तोजी महाराज, सोनगीरसंस्थानाधिपति श्रीकेशवदत्त-महाराज प्रभृति समस्त आचार्यों की पधरावनी कराकर, षोडशोपचार पूजन बड़े भक्ति-भाव से किया।

उसी प्रकार देशदेशान्तरों से आये हुये विद्वज्जनों को भी दक्षिणा एवं मिष्ट द्रव्य देकर सत्कार किया।

इस कार्य में ३०००) तीन सहस्र रुपये से भी अधिक व्यय हुआ।

गया श्राद्ध—

संचालक महोदयोंने गत पौष मास में गयाश्राद्ध करके लौटते हुये काशी में वैदिकों की वसन्त-पूजा, अनेक विद्वानों का सत्कार और समस्त जातीय बन्धुओं को तथा अन्य विद्वानों को भी चांदीके ५०)-५०), भरी के करीब २०० सौ रौप्यपात्र प्रदान किये। इसी उपलक्ष्य में पाठशालीय अध्यापकों को पाँच ५) पाँच २ रुपये तथा छात्रों को आठ आठ ।।) आने दक्षिणा दी गई।

सम्मान—

कार्तिक शुक्ला १३ को दिन में ३ बजे पीठापुर के वेदार्थ परीक्षाधिकारी पं० श्री लक्ष्मीनारायण शास्त्रीजीको 'आम्नाय-वाचस्पति" पदवी-विभूषित मानपत्र प्रदान कर सत्कार किया गया। उक्त महाशय की वेदार्थ-व्याख्या-प्रणाली तथा प्रगाढ पाण्डित्य को देखकर सभास्थ विद्वज्जनों ने बड़ा आदर अभिव्यक्त किया।

शाखा विद्यालय—

इस विद्यालय की एक शाखा कलकत्ता नगरी में "कालिका-साङ्गवेद-विद्यालय" नामका स्थापित हुई।

विद्यालय के भवनके लिये कलकत्ता-निवासी श्री बा० गुरुपद हालदार महोदय ने ८०००) आठ हजार रुपये मूल्यकी जमीन प्रदानकी कलकत्ताका। शिवकुमारभवन भी इस विद्यालयका अङ्गभूत माना गया

अ० भा० ब्राह्मण सम्मेलन के प्रस्तावित भावी संस्कृत विश्वविद्यालय का प्रारम्भिक कार्य इसी साङ्गवेद विद्यालय काशी से प्रारम्भ होने की घोषणा की गयी।

शुभ विवाह—

इस विद्यालय के संस्थापक स्व० मे० पं० विहारीलालजीके चिरञ्जीवी पुत्र श्री गोविन्दलालजी के शुभ विवाह के उपलक्ष्य में अनेक दान पुण्य किये गये।

माघ शुक्ला १३ गुरुवार को विद्यालय का अष्टम वार्षिकोत्सव श्रीमान् काशीराज के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ।

प्रतिवर्षानुसार चित्रोद्घाटन, सर्वोच्च-परीक्षोत्तीर्ण वैदिकों का सत्कार, पाठशालीय विद्यार्थियों को पारितोषिक-प्रदानादि कार्य सम्पन्न हुये।

इस वर्ष सञ्चालकों ने अपने स्व० पितृव्य मेहता पं० हजारीलालजीके स्मारक में २००००) बीस हजार रुपये मूलधन से विद्यार्थियों का अन्नसत्र स्थापित किया।

संवत् १९८६ का विवरण—

चै० शु० १५ मंगलवार को काशी में हुये सोमयागमें सम्मिलित ऋत्विजों को दो २ रुपये तथा ज़री की पामरी प्रदान कर सत्कार किया गया। धर्मप्राण श्रीलक्ष्मण शास्त्रीके शिष्य श्री० पं० भाऊ-शास्त्री बझे जीको म० म० पदवी प्राप्ति के उपलक्ष्य में महावस्त्र प्रदान कर सत्कार किया गया।

और वै० शु० ५ को शङ्कराचार्य जयन्त्युत्सव प्रतिवर्षानुसार मनाया गया।

चातुर्मास्य याग—

ज्येष्ठ में ६ दिन तक बड़े धूमधाम के साथ विद्यालय भवन में चातुर्मास्य याग हुआ। इस यागमें विद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापकों ने आर्त्विज्य कर अपनी कर्म-कुशलता दिखाई। इस कर्म में प्रमुख भाग वे० गणेश दीक्षित ने लिया था। इस याग में विद्यार्थियों की कुशलता देखने और प्रोत्साहन देने के उद्देश से स्व० श्री काशीराज महाराज श्री ५ आदित्यनारायण सिंह बहादुर भी पधारे थे। केवल कुशासन पर डेढ़ घण्टे तक बैठे हुये महाराज ने सम्पूर्ण इष्टिका अवलोकन कर धर्मप्राणता का परिचय दिया उसके द्वारा ऋत्विज, यजमान और विद्वानोंके अन्तःकरण में महाराज के प्रति विलक्षण श्रद्धाका भाव उत्पन्न हुआ। महाराज की आत्मीयता महाविद्यालय के साथ साथ विद्यालय के सञ्चालकों के प्रति भी धर्मभाव के लिये आदर्शरूप है। आगे कलकत्ते में जब महाराज श्री ५ प्रभुनारायण सिंह बहादुर पधारे थे तो सञ्चालक श्री मेहताजीके घर पर महाराज का पधारना अनुपम उत्साह का सम्वर्धक हुआ। साथही उस समय श्री कुंवर साहब (महाराज श्री आदित्य नारायण सिंह बहादुर) भी पधारे थे। द्वितीय बार महाराज श्री ५ आदित्य नारायण सिंह जी बहादुर महोदय पधारे थे तो उस समय वर्तमान महाराज का भी साथ में पधारना हुआ था। तात्पर्य यह की धर्मभाव के प्रोत्साहन में इस प्रकार महाराज का बहुत ही अनुग्रह और आत्मीय भाव बराबर चला आ रहा है।

प्रतिवर्षानुसार गणेशोत्सव एवं शास्त्रार्थ प्रतियोगितादि कार्य हुये। आश्विन शुक्ल में सरस्वती उत्सव मनाया गया।

कार्तिक कृ० ९ को प्रातः स्मरणीय श्री शान्ताश्रमस्वामीजी की पुण्य तिथि मनाई गयी।

विद्यालय का नवम वार्षिकोत्सव माघ शुक्ला त्रयोदशी को श्रीमान् काशी महाराज की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

प्रतिवर्षानुसार सर्वोच्च परीक्षोत्तीर्ण वैदिकों को वर्षाशन तथा पाठशालीय छात्रों को पारितोषिक प्रदान किया गया।

गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा के तरफ से शारदा-बिल पास होने के विरोध में म० म० पदवी छोड़े हुये पं० पञ्चानन तर्करत्नजी, पं० पद्मनाथ विद्याविनोदजी, पं० भाऊशास्त्री बझे जीको १००) एक २ सौ रुपये प्रदान किये गये।

संवत् १९८७ का विवरण—

प्रतिवर्षानुसार आद्यशंकराचार्य जयन्त्युत्सव तथा गणेशोत्सव मनाया गया। आश्विन में सरस्वती उत्सव मनाया गया। कार्तिक कृ० ६ को श्री शान्ताश्रमस्वामीजीकी पुण्य तिथि मनायी गई।

माघशुक्ल १३ को विद्यालयका दशम वार्षिकोत्सव श्रीमान् काशीराज की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। प्रतिवर्षानुसार वर्षाशन पाने वाले वैदिकोंका तथा इस वर्ष परीक्षोत्तीर्ण वैदिकोंका सत्कार दुशाला तथा दक्षिणा प्रदान कर किया गया। गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा की तरफ से वैद्यपञ्चानन कृष्णशास्त्री कवड़े तथा पं० त्र्यम्बक रामचन्द्र आपटे वैद्य को एक २ दुशाला प्रदान किया गया। त्यक्त महामहोपाध्याय पदवी वालों को भी वर्षाशन प्रदान किया गया।

संवत् १९८८ का विवरण—

इस वर्ष विद्यालय पर कृपादृष्टि रखने वाले महानुभावों में से निम्नलिखित अनन्य शुभचिन्तकों का वियोग सहन करना पड़ा।

महामहोपाध्याय पं० वामाचरण न्यायाचार्य (चैत्र शु० ३)।

धर्मप्राण पूजनीय पं लक्ष्मणशास्त्री द्राविड़ (आषाढ़ कृ० ४)।

विद्यालय के स्थायी सभापति श्रीमान् काशीनरेश प्रभुनारायणसिंह बहादुर (श्रावण कृ० ६)।

महामहोपाध्याय त्यागमूर्ति पं० नित्यानन्द पर्वतीय (आश्विन कृ० ६)।

विद्यालय के सञ्चालक नागरकुलभूषण पं० किशोरीलाल मेहता (पौष कृ० २)।

प्रतिवर्षानुसार वैशाख शुक्ल में श्रीशंकराचार्यजयन्ती तथा भाद्रपद शुक्ल में गणेशोत्सव मनाया गया।

एक लाख रुपयों का आदर्शदान—

माघ शुक्ल १३ को काशीनरेश श्रीमान् आदित्यनारायण सिंह बहादुर की अध्यक्षता में प्रतिवर्षानुसार वार्षिकोत्सव मनाया गया। तथा श्रीमहाराजको राजगद्दी के उपलक्ष्य में मानपत्र समर्पित किया गया। इस वर्ष विद्यालय के सञ्चालक पं० किशोरीलाल मेहता ने संन्यास ग्रहण करने के पूर्व अपने परम प्रिय विद्यालय की उन्नति के लिये एक लक्ष १०००००) रुपया दान किया, जिसकी घोषणा वार्षिकोत्सव में की गई।

संवत् १९८९ का विवरण—

प्रतिवर्षानुसार श्रीशंकराचार्यजयन्ती, गणेशोत्सव, सरस्वत्युत्सव आदि यथासमय मनाये गये। ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्थीको त्यागमूर्ति पं० पञ्चानन तर्करत्न के सभापतित्व में यह निश्चय किया गया

कि इस विद्यालय के पुस्तकालय का नाम पूज्य श्रीलक्ष्मण शास्त्री जी की स्मृति में "श्रीलक्ष्मण पुस्तकालय" रक्खा जाय। तदनुसार विद्यालय के सञ्चालकों ने पुस्तकालय का नवीन नामकरण स्थिर किया। इस पुस्तकालय में प्राप्त पुस्तकों के विशिष्ट दाताओं की नामावली इसी पुस्तक में अन्यत्र प्रकाशित है। इस वर्ष विद्यालय में सहस्रचण्डी बड़े समारोह से हुई। ब्राह्मणों को सिल्क के वस्त्रोपवस्त्र, रजतपात्र अर्घसहित, तथा ७५) दक्षिणा दी गयी। श्रीमान् काशीनरेश भी दर्शनार्थ पधारे तथा मन्त्रपुष्पादिक में सम्मिलित होकर यज्ञ को सोत्साह सम्पन्न किया। गोवर्धनपीठाधिपति जगद्गुरु श्री १००८ शंकराचार्य का इसी मध्य में स्वागत तथा सत्कार किया गया।

माघ शुक्ल त्रयोदशी को प्रतिवर्षानुसार वार्षिकोत्सव मनाया गया। जगद्गुरु श्री १०८ संकेश्वर शंकराचार्य द्वारा काशी में संचालित "संकेश्वर पाठशाला" तथा कलकत्ता के समीप उत्तरपाड़ा ग्राम में श्रीमहेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के निरीक्षण में चलने वाली 'सामवेद-पाठशाला" शाखाविद्यालय स्वीकार की गई।

इस वर्ष मेहता पं० गिरिधारीलाल जी तथा मेहता पं० मनोहरलाल जी के पुत्रोत्सवों के उपलक्ष्य में अनेक दान पुण्य हुए।

संवत् १९९० का विवरण—

वैशाख शुक्ल में श्रीशंकराचार्य जयन्ती तथा भाद्रपद शुक्ल में श्रीगणेशोत्सव यथापूर्व मनाया गया। श्रीमान् काशीनरेश द्वारा शास्त्रार्थ सभाके लिये प्रदत्त अर्थशास्त्र के प्रश्न को देखकर, सम्मिलित होने वाले विद्वानों तथा छात्रों का उत्साह अत्यन्त वृद्धिंगत हुआ। श्रीमान् नगीनदास पुरुषोत्तमदास संघवी को उनकी धर्म सेवा के लिये मानपत्र दिया गया। सम्मान के द्वारा प्रोत्साहन देकर सद्गुणों का अभिवर्धन करना भी, इस विद्यालय का एक ध्येय है जिसके अनुसार पंढरपुर-निवासी शुक्ल यजुर्वेदीय घनपाठी वे० शंकरभट्ट इन्दापुरकरजी तथा खानदेश के सुप्रसिद्ध तपस्वी गणेशबोवा उपासनी महाराज एवं उनके पुत्र हरिभक्तिपरायण श्रीमुरलीधर बोवा महाराज का सत्कार किया गया।

माघ शुक्ल १३ को प्रतिवर्षानुसार श्रीमान् काशीनरेश की अध्यक्षता में वार्षिकोत्सव यथापूर्व मनाया गया। इस वर्ष श्रीमद्वल्लभ-संप्रदाय के तृतीयपीठाधीश्वर गो० श्री १०८ व्रजभूषणलाल जी (काँकरोली), चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वर गो० श्री १०८ वल्लभलालजी (कामवन), गो० श्री १०८ विट्ठलनाथजी (मथुरा), गो० श्री १०८ पुरुषोत्तम लाल जी (कोटा) ने विद्यालय में पधार कर कार्य निरीक्षण किया तथा हृदय से सन्तोष अभिव्यक्त किया।

इसी प्रकार बिहार के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० ईश्वरीदत्त दौर्गादत्ति शास्त्री ने निरीक्षण कर अपना सन्तोष प्रकट किया।

संवत् १९९१ का विवरण—

प्रतिवर्षानुसार श्री शंकराचार्य जयन्ती तथा गणेशोत्सव यथासमय सम्पन्न हुये। मेहता श्री गोविन्दलालजी के पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में अनेक दान पुण्य हुये। काशी में पधारने के साथ ही जगद्गुरु श्री १०८ काञ्ची कामकोटिपीठाधीश्वर शंकराचार्यका शुभागमन विद्यालय में आश्विन कृष्ण त्रयोदशी को हुआ। श्रीशंकराचार्य का षोडशोपचार पूजन कर १०१) रुपये भेट किये गये।

माघ शुक्ल त्रयोदशी को श्रीमान् काशी नरेश की अध्यक्षता में यथापूर्व वार्षिकोत्सव मनाया गया। इस अवसर पर श्री १०८ काञ्चीशंकराचार्य ने भगवत्पाद श्री आद्य शंकराचार्य महाराज तथा श्री काशीनरेश द्वारा प्रदत्त भगवान् वेदव्यास के चित्र का स्थापन किया और अपनी ओर से भी १०८) वर्षाशन देना प्रारम्भ किया। यह घोषणा की गई कि—"शास्त्रार्थ-विचार-पद्धति" के अनुसार यदि कोई विद्वान् वेदों को पौरुषेय सिद्ध कर दे तो उसे ५०००) दिया जायगा।

संवत् १९९२ का विवरण—

इस वर्ष गीर्वाणवाग्वर्धिनीसभा की तरफ से प्रतिनिधियों ने अखिल भारतीय पञ्चमहाभूतपरिषद में वैज्ञानिकोंके समक्ष अपना प्राचीन पक्ष बड़ी दृढता के साथ उपस्थित किया। जिसे मध्यस्थों ने बड़े आदर से स्वीकार किया। वेदशास्त्रसंपन्न पं० मल्लादिराम कृष्ण शास्त्री, पं० काशीनाथ शास्त्री उंबरकर, तथा नागपुर के प्रसिद्ध कीर्तनकार पं० दादाशास्त्री कायरेकर विद्यालय में पधारे और गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा की ओर से उनका सत्कार किया गया। अन्यान्य उत्सवादिकार्य यथासमय पूर्ववत् हुए। इस वर्ष से पं० सीतारामशास्त्री केलकर सांख्ययोगाचार्य ने अपने स्व० पितृचरण के स्मारक में ६१) वर्षाशन देना प्रारम्भ किया।

संवत् १९९३ का विवरण—

इस वर्ष से वसन्तपञ्चमी के दिन "श्री जयदेवाश्रम-स्मृतिसभा' करना निश्चय हुआ। तदनुसार उस दिन पण्डितों की सभा वसन्तपूजा, भक्तिशास्त्रविषयक शास्त्रार्थ, ब्राह्मणभोजनादि कार्य हुए। प०प० श्रीजयदेवाश्रमजीकी विद्यालय पर बड़ी कृपा थी और अपने ब्रह्मीभूत होने के दिन उपर्युक्त कार्योंके लिये आप पर्याप्त निधि दान कर गये हैं अन्यान्य उत्सवादि यथासमय पूर्ववत् हुये। वार्षिकोत्सव के दिन असाध्य जैसे कुष्ठ रोग के संम्बन्ध में अव्यर्थ औषधि के अन्वेषण पर श्रीमान् काशीनरेश के सभापतित्वमें पं० दुर्गादत्त वैद्य को 'रसायन विशारद" की उपाधि दी गई। बाहर से पधारे हुए श्रीकृष्ण माचार्य स्वामीजी, पं०रामकृष्णघनपाठी पं० सदाशिवघनपाठी, पं० रामगोपाल घनपाठी, गुण्डी श्री राजेश्वर शास्त्री और पं० नृसिंहघनपाठीका दक्षिणा तथा विशिष्टव स्त्रप्रदान द्वारा सत्कार किया गया।

सं० १९८४ का विवरण—

इस वर्ष धौलपुर राज्य से महाराज काशीनरेश के पास आयी हुई प्रार्थना के अनुसार महाराज की आज्ञा पाकर गीर्वाणवाग्वर्धिनीसभा ने, विधवाओं की समस्या के संबन्ध में विशिष्ट निबन्ध निर्माण किया, जिसको श्रीमहाराज ने प्रसन्नता-पूर्वक अपनाया। वे श्रीराममूर्ति अय्यंगार घनपाठी नागपुर के दक्षिणामूर्ति विश्वनाथ शास्त्री तथा पं० यज्ञस्वामी दीक्षित सोमयाजी को महावस्त्रादि प्रदान कर सत्कार किया गया। अन्यान्य उत्सवादि कार्य यथासमय हुए तथा श्रीमान् काशी नरेश के सभापतित्वमें वार्षिकोत्सव मनाया गया।

लोकोपकारार्थ पंचक्रोशी के मार्ग में प्रसिद्ध सारंग कूप का जीर्णोद्धार, इस विद्यालय के संचालकों द्वारा किया गया।

संवत् १९८५ का विवरण—

अखिल भारतीय वर्णाश्रमस्वराज्य संघ महाधिवेशन, काशी, में पधारे हुए समस्त आचार्यवृन्द तथा १५५ विद्वानों का स्वागत तथा सत्कार विद्यालय में किया गया और अ०भा०व० स्व०संघ को विद्यालय के संचालकोंने५०१) दान दिया। गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभाकी ओर से वे०श्रीनिवासाचार्य घनपाठी,पं० रामशेष, तिरुवालङ्काड, जिला त्रिचनापली तथा मोर्वीग्रामस्थ पं० कालीदास शास्त्री का सत्कार मानपत्रादि द्वारा किया गया। अन्यान्य उत्सव तथा वार्षिकोत्सव श्रीमान् काशीराज की अध्यक्षता में यथापूर्व हुए।

इस विद्यालय से तैयार हुए विद्वान् पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्रीके शिष्य पं० हरिरामशास्त्री शुक्ल न्यायाचार्य न्याय वैशेषिक आदि शास्त्रों का अध्यापन करने के लिये नियुक्त किये गये। आपने अपने गुरु के आदर्शानुसार विना वेतन वा दक्षिणा ग्रहण किये, धर्मार्थ अध्यापन करना इस विद्यालय में स्वीकार किया है। ऐसे विद्वान् ब्राह्मणों का शुद्ध सात्विकभाव विशेष उल्लेखनीय है।

सं० १९८६ का विवरण—

इस संस्था पर अनन्य प्रेम रखने वाले विद्यालय के स्थायी सभापति श्रीमान् काशीनरेश आदित्यनारायणसिंह बहादुर के स्वर्गवास-निमित्त वैशाखकृष्ण प्रतिपदा को विद्यालय में शोक-सभा हुई। गणेशोत्सव के शास्त्रार्थसभा के अन्तर्गत वेदान्त-शास्त्रार्थ-विचार इस वर्ष से शंकर-जयन्त्युत्सव के अवसर पर करना निश्चित हुआ और तदनुसार सम्पन्न किया गया। अपने पूर्वजों के अनुरूप ही इस संस्था पर अनुराग रखने वाले विद्यालयके वर्तमान सभापति श्रीमान् काशीनरेश विभूतिनारायणसिंह बहादुर को उनके राज्याभिषेकके दिन श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर तथा श्रीसंकेश्वरपीठाधीश्वर आचार्यो

के शुभचिन्तन के साथ भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजी का प्रसाद समर्पण किया गया। विजयादशमी के दिन श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरुजी का शुभाशीर्वादपत्रक, "कामकोट्यनुग्रह" मुद्राङ्कित रत्नकिरीट तथा पट्टवस्त्रादि जगद्गुरुजी की आज्ञानुसार विद्यालय ने श्रीमहाराज को समर्पित किया। शारदीय नवरात्र में "धर्मग्लान्यधर्माभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्वकधर्मसंस्थापनकाम" इत्यादि संकल्प से श्रीगौरी गभस्तीश्वर महादेव पर, ११ दिन अहोरात्र निष्काम रुद्राभिषेकानुष्ठान हुआ, जिसमें विद्यालय के अध्यापक तथा छात्रों ने विशेष रूप से सहयोग दिया।

म० म० त्यागमूर्ति पण्डितप्रवर श्रीपञ्चानन तर्करत्न के सभापतित्व में मेहता पं० मुरारीलालजी को 'वेदशास्त्र-संरक्षक" पदवी प्रदान की गई तथा 'विशुद्ध-संस्कृत-विश्वविद्यालय' स्थापन की घोषणा हुई, तदनुसार माघ शुक्ल त्रयोदशी को पुण्याहवाचनपूर्वक वि० सं० वि० विद्यालयकी परीक्षा विद्वानोंके समक्ष प्रारम्भ हुई।

अन्यान्य उत्सवादि यथासमय हुए तथा फाल्गुन कृष्ण षष्ठी को श्रीमान् काशीनरेश विभूति नारायणसिंह बहादुर के सभापतित्व में वार्षिकोत्सव यथापूर्व मनाया गया।

इस वर्ष से व्याकरणाचार्य पं० श्रीदेवनायक आचार्य ने स्वर्गीय धर्मप्राण श्रीलक्ष्मणशास्त्रीजी के प्रवर्तित आदर्श के अनुसार, विना दक्षिणा ग्रहण किये विद्यालय में अध्यापन प्रारम्भ किया। इस प्रकार विद्यालय में निष्काम भाव से अध्यापन करने वाले उत्कृष्ट अध्यापकों की संख्या वृद्धिंगत हो रही है जो एक विशिष्ट आदर्श है।

अधिक-मास में संचालकों द्वारा नाना प्रकार के दान पुण्य, ब्राह्मणभोजनादि कार्य हुए तथा एक स्वतन्त्रदान की व्यवस्था की गई, जिससे विश्वविद्यालय के कार्य के लिये प्रतिवर्ष पञ्चसहस्र मुद्रा प्राप्त होती रहे।

सं० १६६७ का विवरण—

इस वर्ष बाहर से पधारे हुये विद्वान् श्रीसम्पत्कुमार स्वाम, मैसूर तथा पं० अघातुर दीक्षित, तण्डापुर, एवं पं० सुन्दर घनपाठी तञ्जोर का विद्यालय में दक्षिणा प्रदान कर सत्कार किया गया। स्वर्गीय श्रीपञ्चानन तर्करत्न की स्मृति रक्षा में गणेशोत्सवीय पारितोषिक का नाम 'पञ्चानन पारितोषिक' स्थिर किया गया।

इस विद्यालय के स्वर्गीय व्यवस्थापक पं० जानकीलाल जी की स्मृतिरक्षा में उनके भ्राता पं० गोबर्धनजी तथा भागिनेय पं० वैकुण्ठरामजीने सर्वोच्च परीक्षा विभाग में ५१) वार्षिक देना निश्चय किया।

विद्यालय के वर्तमान सभापति श्रीमान् काशीनरेश के कल्याण-अभिवृद्धि के लिये मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमाको महारुद्राभिषेक विद्यालय के सब लोगों ने मिलकर उत्साह से किया।

अन्यान्य उत्सव तथा वार्षिकोत्सव के कार्य पूर्ववत् सम्पन्न हुए।

संवत् १९९८ का विवरण—

इस साल तैलंग देश से समागत अवधनशिरोमणि पं० श्रीपाद सुब्रह्मण्य घनपाठी की अद्भुत धारणा का प्रदर्शन हुआ। कृष्णयजुर्वेद में आपकी अद्भुत धारणा को देखकर श्रीगीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा की ओर से 'वैदिक शिरोमणि"की उपाधि दी गई तथा मेहता पं० श्रीमरारीलालजीने १०१) एवं रेशमी वस्त्र देकर आपका सत्कार किया।

मलकापुर निवासी पं० महादेवभट्ट पुरोहित का भी सत्कार २५) तथा सिल्क प्रदान कर, ऋग्वेद में घन का पारायण करने के उपलक्ष्य में किया गया। विद्यालय के सञ्चालकों ने कलकत्ते से काशी आकर शान्त्यर्थ प्रतिदिन सम्पुटित पाठ तथा जप का अनुष्ठान प्रारम्भ किया तथा श्री संकटाजी के मन्दिर में शतचण्डी-याग किया।

अन्यान्य उत्सव तथा वार्षिकोत्सव के कार्य पूर्ववत् सम्पन्न हुए।

संवत् १९९९ का विवरण--

अधिक श्रावण मास में विद्यालयके संचालकों ने सहस्रब्राह्मण भोजन शास्त्रीय पद्धतिसे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक कराया। युद्धजन्य परिस्थिति वश अन्न-वस्त्रादिके लिये समय प्रतिकूल रहते हुये भी वेदनारायण की कृपा से इस स्थान पर अधिकमास निमित्त खूब दान पुण्य हुवे। विशेषतः चि० श्रीलाल मेहता तथा चि० माधवलाल मेहता के उपनयनोत्सव प्रसंग में तो हजारों रुपये संस्थाओं और सनातनी पत्रों के मध्य भी वितरण किये गये। संगीत-समारोह में स्थानीय गो० श्री १०८ मुरलीधरजी महाराज तथा गोस्वामी श्री १०८ दीक्षितजी महाराज-मुंबई का सत्कार किया गया।

इस वर्ष में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस विद्यालय के अध्यापक तथा गीर्वाणवाग्वर्धिनीसभाके सभापति पण्डितप्रवर श्रीदेवनायक आचार्य ने पाश्चात्यों के तर्क का सम्यक् आलोचन कर, नागपुर विश्वविद्यालय में रावबहादुर बापूराव दादासाहेब किनखेड़े व्याख्यानमाला" के अन्तर्गत भाषण करते हुए विद्वानों के समक्ष, भारतीय न्यायशास्त्र को पाश्चात्यों के तर्क की तुलना में सर्वोत्कृष्ट संस्थापित किया जिसका परिचय-अध्यक्षपद पर आसीन नागपुर हाईकोर्ट के विचारपति जस्टिस श्रीभवानीशङ्कर नियोगी के समारोपात्मक भाषण में निम्नलिखित शब्दों द्वारा मिलता है—

"भारतीय शास्त्रों की महत्ता देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है।············पण्डितजी के व्याख्यानों से जितना प्रकाश मिला है और मैं समझता हूँ सभी लोगों को जैसा आनन्द एवं सन्तोष हुआ है वह अवर्णनीय है। इसके लिये पण्डितजीको जितना भी धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है"।

विद्यालय के अन्यान्य उत्सव यथासमय हुए। वार्षिकोत्सव में वार्षिक कार्यक्रमके अतिरिक्त संगीतशास्त्रज्ञ पं० विनायकराव पटवर्धन तथा पं० ओङ्कारनाथ ठाकुर को क्रमशः संगीताचार्य एवं संगीत-सम्राट् पदवी विभूषित मानपत्र दिये गये। नागपुर विश्वविद्यालय में उत्कृष्ट व्याख्यान देनेके उपलक्ष्य में पं०देवनायक आचार्य तथा उनके सहायक पं० हरिराम शास्त्री शुक्ल को महावस्त्र देकर सत्कार किया गया।

संवत् २००० का विवरण—

हिन्दू विश्वविद्यालयमें आमन्त्रित प्राच्य विद्या सम्मेलनान्तर्गत अखिलभारतीय पंडित परिषद्के प्रसङ्गमें आये हुए विदेशस्थ पंडितों का विद्यालयमें स्वागत एवं पूजन हुआ। समागत विद्वानों ने साङ्गवेद-विद्यालय की कार्यपद्धति की भूरि २ सराहना की। वस्तुतः वेदशास्त्रसंरक्षक मेहता पं० मुरारीलालजी का धर्मोत्साह संस्मरणीय है। आपने दिल्ली में हुए कोटि होम याग में सहायता के लिये प्रार्थना आते ही, पाँच सहस्र रुपये तत्काल भेजे। विद्यालय के शास्त्र विभाग की उन्नति के लिये निम्नलिखित योजना की।

श्रीविक्रमादित्य-वर्षाशन-

महाराज श्री विक्रमादित्य की दिव्य स्मृति में विक्रम द्विसहस्राब्दी के निमित्त ऐसी घोषणा की गई कि—सर्वोच्च वैदिक परीक्षोत्तीर्ण वैदिकों को जिस प्रकार वर्षाशन दिया जाता है, उसी के सदृश निम्न लिखित वर्षाशनों की भी व्यवस्था की जायगी।

(१) विद्यालय के द्वारा संचालित अखिल भारतवर्षीय विशुद्ध संस्कृत विश्व विद्यालयकी उत्तम परीक्षा के प्रत्येक खण्ड में विशेष रूप से उत्तीर्ण होने वाले विद्यालयीय छात्रों को अब एक २ वर्ष के लिये १००) एक सौ रुपये श्री विक्रमादित्य वर्षाशन दिये जायेंगे।

(२) मध्यम परीक्षा और खण्ड मध्यम परीक्षा में भी विशेष रूप से उत्तीर्ण होने वाले विद्यालयीय छात्रों को ५०) पचास रुपये एक २ वर्ष के लिये श्री विक्रमादित्य वर्षाशन दिये जायेंगे।

(३) इन सभी वर्षाशन-भोगी सज्जनों को वे सभी नियम पालनीय हैं जो वैदिकों के वर्षाशन के सम्बन्ध में लागू हैं।

(४) वेद विभाग में भी प्रथम, मध्यम, उत्तम परीक्षा हुआ करेगी। उस में भी उत्तीर्ण होने वाले विद्यालयीय छात्रों को पूर्वोक्त रीति से वर्षाशन वितीर्ण किया जायगा।

(५) विद्यालय के समान बाहर भी जो विद्वान काशी में या अन्यत्र प्राचीन सदाचार के रक्षण पूर्वक स्वतन्त्रता से विद्या प्रचार एवं धर्म प्रचार कर रहे हों, उनको भी विद्यालय की ओर से कुछ नियमित संख्या में श्री विक्रमादित्य वर्षाशन दिये जाने की व्यवस्था की जाती है। इन वर्षाशनों का वितरण विद्यालय का कर्तृ पक्ष अपनी सम्मति से निर्धारित करके किया करेगा।

महाराज विक्रमादित्य की दिव्य स्मृति में ये सब कार्य बहुत कुछ सहायक हैं। उनके दरबार में बड़े २ विद्वानों का समादर होता था। उनके नवरत्न महाकवि कालिदास प्रभृति प्रसिद्ध ही थे। विद्यालय की शलाका परीक्षाओं में परीक्षित होकर सम्मानित विद्वद्रत्न हमारे वेदशास्त्र-संरक्षक मेहता पं० मुरारीलाल जी एवं गिरिधारीलालजी के विद्यालय सभा भवन को सुशोभित कर उन्हें परम कीर्तिमान बनावेंगे ऐसा विश्वास है।

इस प्रकार उच्चकोटि के विद्वद्रक्षण कार्य द्वारा विद्याधर्म के रक्षक महाराज श्री विक्रमादित्य की स्मृति को मेहता परिवार ने चिरस्थायी बनाकर देश के धनी मानी सज्जनों के सामने आदर्श कार्य किया है।

विद्यालय के सामयिक अनेक उत्सव तथा वार्षिकोत्सव यथासमय सम्पन्न हुए। उज्जैन के अग्निहोत्री पं० अनन्त शंकर वारे शास्त्री तथा साधु श्री मुनीश्वरानन्द जी बाबाराघव दास आदि सन्तोंका सत्कार विद्यालय में किया गया।

इसी विद्यालय के विद्यार्थी विश्वनाथ शास्त्री दातार ने अपने स्वर्गीय मामा पं सीतारामशास्त्री केलकर की चलाई हुई वर्षाशन ६१) की वृत्ति को १०१) वर्षाशन में परिणत किया, जिसे प्रतिवर्ष उनके नाना और मामा के स्मारक में पूर्ववत् दिये जाने का निश्चय हुआ।

सं० २००१ का विवरण—

मेहता पं० गोविन्दलालजी के पुत्र चि० गौरीलाल के उपनयनोत्सव प्रसंग में शतचण्डी याग, अनेक संस्थाओं को दान, पंडितों की सभा, वसन्तपूजा संगीत समारोह आदि के अतिरिक्त सवा लक्ष रुपयों का विशिष्ट दान विद्यालय के संचालकों ने किया, जिसकी व्यवस्था इस प्रकार से की गई—

२५०००) श्रीहाटकेश्वर मन्दिर-जीर्णोद्धार,

२५०००) श्री मृत्युञ्जय मन्दिर—जीर्णोद्धार.

२५०००) अयुत ब्राह्मण भोजन,

२५०००) कष्ट निवारण-फण्ड,

२५०००) उपर्युक्त कार्यों में न्यूनाधिक पूर्ति के लिए।

तथा मेहता पं० हरिलाल जी के शुभ विवाहोत्सव प्रसङ्गमें शतचण्डी याग वेदोक्ताशीर्वाद-सभा आदि के अतिरिक्त नागर विद्यार्थियों के सहायतार्थ पचास सहस्र रुपये "नागर फण्ड' में समर्पित किये।

इसी विद्यालय में संचालकों की आर्थिक सहायता से तञ्जौर जिलान्तर्गत श्रौतस्मार्तकर्म धुरन्धर ब्रह्मश्री रामनाथ दीक्षित अग्निहोत्री के द्वारा श्रौत चातुर्मास्य याग सुसम्पन्न हुआ जिसमें हिन्दूविश्वविद्यालय के महामहोपाध्याय पं० चिन्न स्वामी शास्त्री, शास्त्ररत्नाकर पं० रामचन्द्र दीक्षित प्रभृति २ विद्वानों

ने आर्त्विज्य की शोभा बढ़ाई। इस प्रकार विद्यालय में श्रौत स्मार्त यज्ञ अनुष्ठान आदि शास्त्रीय-पद्धति से होते रहते हैं, जिन्हें अवलोकन कर विद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों को वेदादिशास्त्रों के अध्ययन के साथ २ प्रत्यक्ष प्रक्रिया का ज्ञान भी प्राप्त होता रहता है।

श्री शंकर जयन्ती, गणेशोत्सवादि अन्यान्य उत्सव तथा वार्षिकोत्सव पूर्ववत् सम्पन्न हुए।

विक्रम द्विसहस्राब्दी के समय की हुई घोषणा के अनुसार इस साल से विशुद्ध संस्कृत विश्व-विद्यालय की परीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको 'श्री विक्रमादित्य वर्षाशन" देना प्रारम्भ हो गया। तञ्जौर जिला निवासी श्रौतस्मार्तकर्म धुरन्धर ब्रह्म श्री रामनाथ दीक्षित, तैलङ्ग देशान्तरगत मछलीपट्टम् नगर निवासी विद्वान कुरुगुंटी श्रीरामशास्त्री तथा काशी के पं० श्री मेधानाथ झा मीमांसक को सौ २ रुपये प्रदान कर सम्मानित किया गया।

संवत् २००२ का विवरण—

इस वर्ष चैत्राधिमास में सविधि श्रीमद्भागवत सप्ताह पारायण किया गया। प्रातः मूल श्रीमद्भा-गवत का पारायण होता था तथा अपराह्न में गुजरात के प्रसिद्ध कथावाचक ब्र० श्रीनरहरिलालजी महा-राज की रोचक कथा होती थी। आपको ५५१) तथा मूल पारायण करने वाले पुराणाचार्य पं० गङ्गाधर शास्त्री वापट को १०१) दक्षिणा दीगई। इसके अतिरिक्त अधिकमास निमित्त दान एवं ब्राह्मणभोजनादि यथापूर्व संचालकों द्वारा सोत्साह किये गये।

प्रतिवर्ष के अनुसार श्रीशंकराचार्यजयन्ती श्री सरस्वती उत्सव, श्री १०८ स्वामी जयदेवाश्रम स्मृतिसभा श्रीगणेशोत्सव आदि विविध कार्य यथावत् सम्पन्न हुये। इस वर्ष गणेशोत्सव शास्त्रार्थ सभा के सम्मेलन में काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के ला कालेज के प्रोफेसर श्री विनायक विष्णु देशपाण्डे सभा-पति थे। आपका सम्मान "मिताक्षराविशेषज्ञ" पदवी देकर सभाने किया।

यह विद्यालय प्रतिवर्ष दिवङ्गत वैदिक एवं शास्त्रज्ञ उत्कृष्ट विद्वानों के चित्रों की स्थापना कर उनकी कीर्तिरक्षा करने का कार्य किया करता है। तदनुसार विद्वानों के चित्रों से विद्यालयका भवन चारो ओर जगमगा रहा है। इस वर्ष भी नूतन चित्रों का उद्घाटन किया जा रहा है।

विद्यालयीय विशिष्ट पुरस्कार प्राप्त करनेवाले छात्र
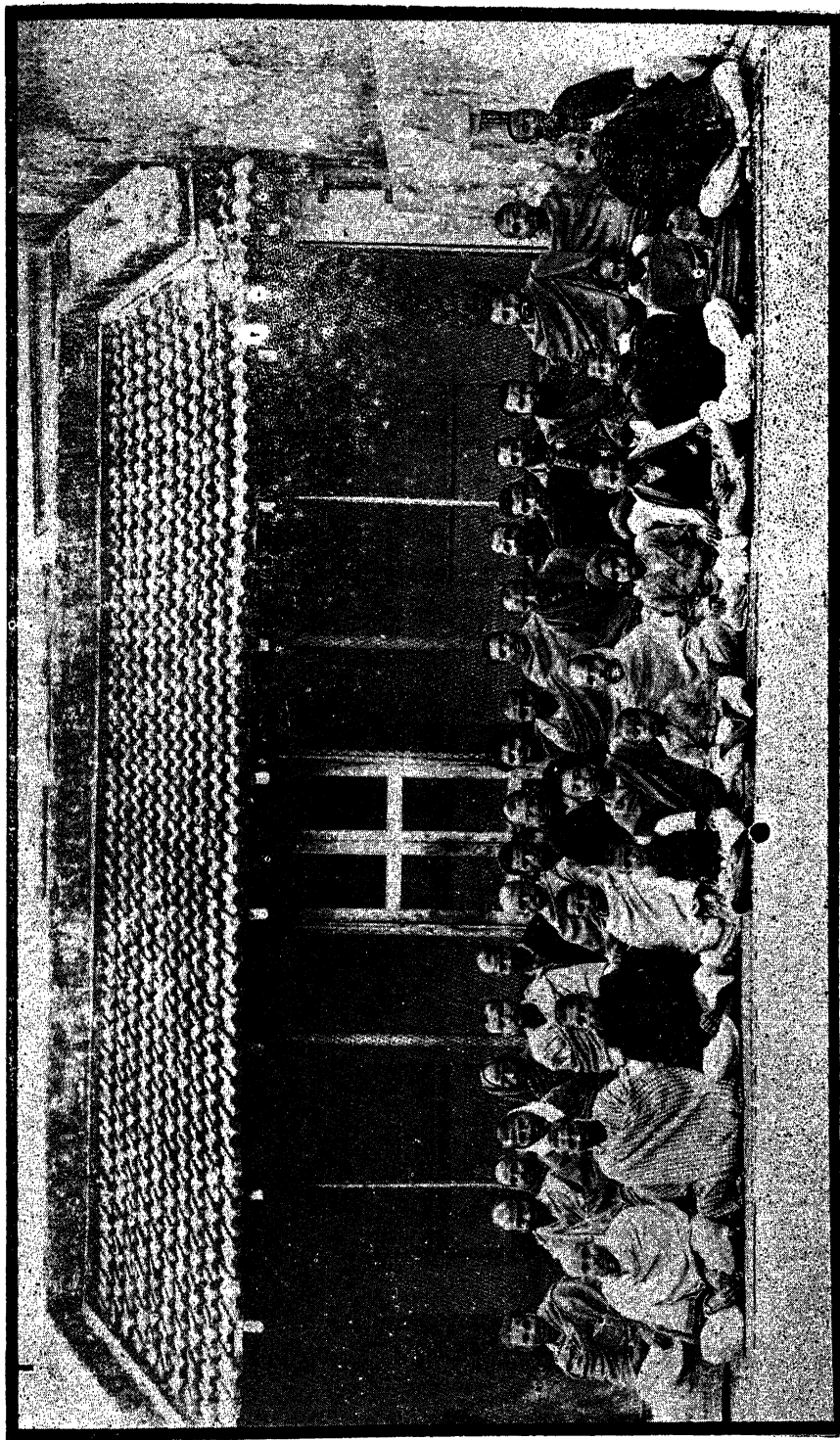
THE SCHOLARS OF THIS INSTITUTION WERE AWARDED SPECIAL PRIZES.

चित्र परिचय पृष्ठ [पर देखें।

बायेंसे चौकी पर:— (१) श्री सनकनंन्दन पाठक-व्याकरण, साहित्य, न्याय (मैथिल) (२) पं० श्रीयदुवंश पाठक-व्याकरण, साहित्य, न्याय (मैथिल) अध्यापक-युवराजकुमारी संस्कृत पाठशाला, काशी (३) श्री रङ्गनाथ भट जोशी ऋग्वेद (काशी) (४) सेनापति पं० श्री गणपति शास्त्री हेब्बार ऋग्वेद न्याय, मिमांसा, वेदान्त, साहित्य, व्याकरण, नाट्य, धर्मशास्त्र, विज्ञान, नीति (मलबार) (५) श्री अनन्तराम भट पुणताम्बेकर ऋग्वेद (काशी) (६) सर्वोच्चवैदिकपरीक्षोतीर्ण पं० श्री हीरालाल जी औदीच्य (काशी) (७) श्री० भैरवनाथ पाण्डे (काशी) (८) सर्वोच्चवैदिकपरीक्षोतीर्ण पं० श्री मंगल जी बादल यजुर्वेद (काशी) (९) श्री प्यारेलाल सामवेद (काशी) (१०) पं० श्रीरामचन्द्र शास्त्री खरांग मीमांसाचार्य उपाध्याय गोयनका संस्कृत कालेज काशी न्याय, मीमांसा, वेदान्त, धर्मशास्त्र (काशी) (११) श्री हरेकृष्ण दातार कृष्णयजुर्वेद, न्याय, नीति, विज्ञान, (काशी) (१२) पं० श्री हरिराम शास्त्री जी शुक्ल न्यायाचार्य प्राध्यापक साङ्गवेद विद्यालय काशी न्याय, मीमांसा, वेदान्त, धर्मशास्त्र (काशी) (१३) श्री रामचन्द्र शास्त्री होसमने—न्याय (गोकर्ण) (१४) पं० श्रीमूलशंकर शास्त्री व्यास वेदान्ताचार्य संपादक अच्युत मासिक काशी (गुजरात) (१५) पं० श्री मुकुन्दशास्त्री पायगुण्डे न्याय, मन्त्रशास्त्र लक्ष्मणपुस्तकालयाध्यक्ष (काशी) (१६) पं० श्री गोविन्द शास्त्री वैजापुरकर न्यायाचार्य उपसंपादक साप्ताहिक-सन्मार्ग (काशी) (१७) श्री रामचन्द्र शास्त्री जोशी न्याय, साहित्य, नीति (बरार) (१८) पं० श्री जयराम शास्त्री शुक्ल न्याय, मिमांसा, वेदान्त अध्यापक संकेश्वरशङ्कराचार्य पाठशाला (काशी) (१९) श्री रामचन्द्र शास्त्री मण्डलीकर न्याय, मीमांसा, वेदान्त, धर्मशास्त्र, नीति, साहित्य, आयुर्वेद (काशी) (२०) श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार-कृष्ण यजुर्वेद, व्याकरण, साहित्य, न्याय, मीमांसा, वेदान्त, धर्मशास्त्र, नीति, आयुर्वेद अध्यापक श्रीकृष्ण पाठशाला (काशी) (२१) श्री यशवंत पटवर्धन, ऋग्वेद (काशी)।

दुसरीपंक्ति बायें से:—(१) पं० श्री जनार्दन शास्त्री खुण्टे ज्यौतिषाचार्य, न्यायरत्न, ज्यौतिष, न्याय, नीति, संपादक यशवंत पञ्चाङ्ग तथा संस्कृत मासिक सन्देश काशी (महाराष्ट्र) (२) पं० श्रीउपेन्द्रजी राजहंस व्याकरणशास्त्री अध्यक्ष सतवांबाबासंस्कृतपाठशाला काशी (मैथिल) (३) श्रीप्रभाकर मण्डलेकर यजुर्वेद (काशी) (४) श्री मुकुन्दनाथ भट्टराई न्याय, व्याकरण, आयुर्वेद (नेपाल) (५) श्री वैद्यनाथ पायगुण्डे कृष्णयजुर्वेद (काशी) (६) श्री चिन्तामणि पालंदे कृष्णयजुर्वेद (काशी) (८) श्री० वामन जोशी ऋग्वेद (काशी) (९) श्री काशीनाथ चांदेकर कृष्णयजुर्वेद (काशी) (१०) श्रीविश्वनाथ देव ऋग्वेद (काशी) (११) श्री विनोयक जोशी ज्यौतिष (काशी) (१२) श्री० लक्ष्मीकान्त आचार्य कण्ववेद (काशी) (१३) पं० श्री दत्तात्रेय दीक्षित द्रोण, न्याय, प्रचारक वर्णाश्रमस्वराज्य संघ काशीप्रान्त (काशी)।

विद्यालय में दाताओं की नामावली

संवत १९९०

१००) श्री १००८ सङ्केश्वरशङ्कराचार्यजी

५००) श्री १००८ नाथद्वारपीठाधीश्वरजी

१००) श्री हरखचन्द कालूराम झवरजी

८००) दानवीर सेठ श्री लच्छीराम चूड़ीवाला

६००) श्री सेठ लच्छीराम चूड़ीवाला, श्री सेठ वल्लभनाथ करसन दास नाथा, श्री सेठ देवीदास माधवजी ठाकरसी

संवत् १९९१

१००) श्री १००८ सङ्केश्वर शंकराचार्य पूना

१०१) श्री १००८ गोस्वामी गोकुलनाथ जी महाराज

२५०) श्री सेठ देवीदास माधव जी ठाकरसी बम्बई

२००) श्री मोनजी सुन्दरजी बम्बई

२००) श्री सेठ लच्छीराम चूड़ीवाला बम्बई

१००) श्री सेठ हजारीमल सोमाणी कलकत्ता

१००) श्री. जी० टी० संस्कृत कालेज के व्यवस्थापक

२५) श्री पं० शङ्कर प्रसाद शास्त्री अहमदाबाद

१५) श्रीमती सौ० भागीरथी बाई बापट नागपुर

५) श्री. पं० गोपीनाथ दूबे (स्व० माता के स्मारक में)

संवत् १९९२

१०१) श्री १००८ गोकुलनाथजी महाराज बम्बई

१००) श्री १००८ काञ्चीशङ्कराचार्य (वैदिकों को वर्षाशन)

६१) श्री सीताराम शास्त्री केलकर (अपने पितृचरणोंके स्मारक में)

२५) पं० शङ्कर प्रसाद शास्त्री अहमदाबाद

५) श्री पं० काशीनाथ शास्त्री उम्बरकर (मातुलचरणों के स्मारक में)

५) श्री पं० धूर्जटी प्रसाद धौलकिया कोदा

१०) श्रीमती सौ० गिरजा बाई नवाथे नागपुर

२५०) श्री० सेठ नटवरलाल मोहनलाल (पुस्तकों के लिये)

१०१) श्री धोंडो सीताराम अभ्यङ्कर नासिक

१००) श्री पं० वामन शास्त्री दातार ,,

१५) श्रीमान् व्यङ्कटराम बावाराम मेहसाणा

५०) श्रीमती गंगाबाई लोकरे

श्री १००८ श्रीमद्‌जगद्‌गुरु काञ्चीशङ्कराचार्य महाराज, श्रीपं० सीताराम शास्त्री केलकर श्री पं० धूर्जटी प्रसाद धौलकिया, श्री. सौ. गिरजाबाई नवाथे श्री० गङ्गाबाई लोकरे प्रभृति सज्जन उपर्युक्त सहायता प्रतिवर्ष प्रदान करने की घोषणा किये हैं।

संवत् १९९३

१०००) प० प० जयदेवाश्रम स्वामी महाराज (वैदिकपरीक्षार्थ) तथा १०००) वसन्त पञ्चमी के उत्सवार्थ

२०१) श्री सेठ लच्छीराम चूड़ीवाला बम्बई

२०१) श्री० सेठ गोविन्दरामजी बांगड कलकत्ता

२०१) श्री सेठ रामनाथजी बाजोरिया कलकत्ता

१०) श्री दत्तत्रेय भिकाजी रबडे पूना

५) श्री पं० काशीनाथ शास्त्री उम्बरकर

५) श्री पं० गोपीनाथजी दूबे

संवत् १९९४

५) श्री पं० काशीनाथ शास्त्री

५) श्री पं० गोपीनाथजी दूबे

२०) श्री सेठ मोनजी सुन्दरजी

संवत् १९९५

५) श्री सदाशिव शास्त्री लवाटे

५) श्री पं० काशीनाथ शास्त्री उम्बरकर

५) श्री० पं० गोपीनाथ जी दूबे

संवत् १९९६

५) श्री पं० गोपीनाथ जी दूबे

संवत् १९९७

२११) श्रीमान् कोण्डूगोपाल कोपिटवार

संवत् १९९८

१०) श्री. कोण्डूगोपाल कोपिटवार

संवत् १९९९

५१) श्री पं० गोवर्धनजी जानी, श्री पं० बैकुण्ठराम झा

(स्व० मातुलचरणों के स्मारकमें) आप भी इस वर्ष से बराबर प्रदान करते हैं ।

१००१) रा० रा० श्रीमान् परशुराम विनायक ताम्हनकर बम्बई

१००) श्री० गोविन्द राव बेडेकर वाल्टेयर

२५) श्री कोंडू गोपाल कोपिटवार ।

संवत् २०००

१०१) श्री पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार (स्व० मातुल चरणों के स्मारक में)

५) श्री गंगाविशुन रामगोपाल

३) ह० भ० प० केशव दत्त महाराज सोनगीरकर

२५) श्री० कोण्डू गोपाल कोपिटवार

३) श्री० वासुदेव मोतीराम शेट

१५) श्री रा० रा० बलवन्त विष्णु आठले

संवत् २००१

१५) ह० भ० प० केशवदत्त महाराज सोनगीरकर

५) रा० रा० मनोहरराव देशपाण्डे

५०) श्री कोण्डू गोपाल कोपिटवार

संवत् २००२

१०) श्री दामोदर दास माधव भाई शेट

१५) ह० भ० प० केशवदत्त महाराज

१) श्री पं० महादेव शास्त्री मुले अहमदनगर

श्रीवल्लभराम शालिग्राम सांगवेद विद्यालय के अन्तर्गत

'श्रीलक्ष्मण पुस्तकालय' में पुस्तकदाताओं की नामावली

श्रीयुत पं० वासुदेवराव कोनेर

" ,, रामभट्टदेव

" ,, रामेश्वरदत्त ब्रह्मचारी

" म० म० पं० केशवशास्त्री मराठे की धर्मपत्नी

" म० म० पं० सीतारामशास्त्री शेण्डे

" " " " लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़

" " " " भाऊ शास्त्री वझे

" प० प० ब्रह्मानन्द स्वामी महाराज

" पं० रामकृष्ण शास्त्री थत्ते

" ,, गोपाल शास्त्री नेने

" ,, गंगाधर शास्त्री तोत्रे

" ,, सदाशिव शास्त्री वेदान्ती

" ,, दिव्य देव शास्त्री नेपाली

" ,, माणिक भट्ट

" ,, श्रीनाथ शास्त्री वेताल

" ,, लखपत जी

" ,, अनन्तराम भट्ट पुणतामकर

" ,, कुरुगण्टि राम शास्त्री

" ,, विश्वनाथ दीक्षित पानगांवकर

" ,, मेधानाथ झा मीमांसक

,, पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्राविड़

श्रीमान् बाबू जयकृष्णदास गुप्त

उपर्युक्त सभी दाताओं को अनेकानेक धन्यवाद हैं।

विद्यालय की वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों की नामावली

उत्तम कक्षा

१ यशवन्त पटवर्धन
२ पुरुषोत्तम फडके
३ रामचन्द्र अ.द्य
४ सोमनाथ नेपाली
५ नारायण दातार
६ नागेश्वर जोशी
७ लक्ष्मीकान्त पुराणिक
८ माणिक
९ यदुवंश पाठक
१० गोविन्दानन्द
११ नारदमुनी
१२ नारायणप्रसाद
१३ वासुदेव सोलापुरकर
१४ रामचन्द्र मण्डलीकर
१५ हरेकृष्ण दातार
१६ रामचन्द्र होसमने
१७ गङ्गाधर परांजपे
१८ लक्ष्मण पटवर्धन
१९ नारायण दातार
२० शिवराम शुक्ल
२१ गोपाल पायगुण्डे
२२ रामनाथ जोशी
२३ विनायक जोशी
२४ मधुसूदन मुले
कोशे
२५ शङ्कर दयाल

मध्यम कक्षा

१ विश्वानाथ देव
२ वामन केलकर
३ विश्वनाथ पुराणिक
४ गजानन केलकर
५ पाण्डुरङ्ग नायगांवकर
६ शत्रुघ्न शरण
७ रमेशप्रसाद
८ भास्कर वैशम्पायन
९ विश्वनाथ कर्नाटक
१० चिन्तामणि पालन्दे
११ सुब्रह्मण्य शर्मा
१२ नरसिंह शर्मा
१३ प्यारेलाल शर्मा
१४ भालचन्द्र शर्मा
१५ जयनिधि शर्मा
१६ शम्भूनाथ भट्टाचार्य
१७ मार्कण्डेय ओझा
१८ नित्यानन्द आचार्य
कोशे
१९ गोपाल कपूरिया
२० जयराम जोशी

तृतीय कक्षा

१ सोमनाथ पांचगांवकर
२ रङ्गनाथ पांचगांवकर
३ राजाभाऊ भोपे
४ अम्बालाल
५ महेन्द्रप्रसाद
६ राजाराज पाठक
७ काशीनाथ चान्देकर
८ वैद्यनाथ पायगुण्डे
९ ॐकारलाल व्यास
१० मधुकर मण्डलेकर
११ परमात्मानन्द

श्री १०८ सङ्केश्वरशङ्कराचार्य पाठशाला

अध्यापक

श्री० पं० जयरामशास्त्री शुक्ल

छात्र

१ शङ्कर केलकर

विशुद्ध संस्कृत विश्वविद्यालय परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों की नामावली

प्रथमा परीक्षा

कृष्ण यजुर्वेदे

१ चिन्तामणि पालन्दे २ वैद्यनाथ पायगुण्डे ३ काशीनाथ चान्देकर

मध्यमा परीक्षा

ऋग्वेदे

१ सोमनाथ पांचगावकर २ खण्डे २ विश्वनाथ देव ४ खण्डे

शुक्ल यजुर्वेदे

१ सोमनाथ मण्डलेकर २ सोमनाथ अन्यार्थी १ खण्डे

उत्तमा परीक्षा

काण्ववेदे

१ लक्ष्मीकान्त पुराणिक १ खण्डे

ऋग्वेदे

२ यशवन्त पटवर्धन ४ खण्डे

व्याकरणे मध्यमा परीक्षा

१ यदुवंश पाठक १ खण्डे विशेषतया समुत्तीर्णः

तत्रैव उत्तमा परीक्षा

१ सनकनन्दन पाठक ४ खण्डे विशेषतया समुत्तीर्णः

न्यायशास्त्रे मध्यमा परीक्षा

१ विश्वनाथ दातार }
२ रामचन्द्र होसमने } १ खण्डे सामान्यतया समुत्तीर्णौ

गणेशोत्सव के शास्त्रार्थ में।

वेदविभाग में।

ऋग्वेद विश्वनाथदेव। यजुर्वेद सोमनाथ मण्डलेकर, वेकुण्ठनाथ व्यास। आपस्तम्ब-काशीनाथ चान्देकर, चिन्तामणि पालन्दे। काण्व-लक्ष्मीकान्त पुराणिक। अथर्व—काशीनाथ आठवले।

शास्त्रविभाग में।

पूर्वमीमांसा—गणपति शास्त्री हेब्बार, विश्वनाथ शास्त्री। मु० चि० विनायकजोशी। सिद्धान्त शिरोमणि—रामचन्द्र झा। समस्या-गणपति शास्त्री हेब्बार, आद्याप्रसाद। सिद्धान्तकौमुदी-रामदत्त शर्मा। शब्दन्दुशेखर सनकनन्दन पाठक, रामजीशास्त्री। व्यधिकरण-हरदेव मिश्र। अवयव-गणपति शास्त्री हेब्बार। धर्मशास्त्र-विश्वनाथ दातार। वैद्यक-विश्वनाथ पाण्डेय। नीतिसार-गणपति शास्त्री हेब्बार, विश्वनाथ शास्त्री रसप्रकरण-विश्वनाथ शास्त्री। व्याख्यान-हरेकृष्ण दातार। सिद्धान्तकौबलीराम सराफ।

रजतजयन्तीमहोत्सव प्रसंगे विद्यालयस्य परमोपास्यभूतानां वेदानां प्रामाण्यसाधको गीर्वाणवाग्वर्धिनीसभया सन्दब्धः प्रबन्धः ।

(ले० न्यायाचार्य पं० श्री हरिराम शास्त्रीशुक्लः मंत्री गी० वा० व० सभा, काशी ।)

साम्प्रतं सर्वतः प्रसारितमनोनयनानां पुरत एतदेवापरोक्षं यत् सन्तोषस्य शान्तेश्च जनेषु समाजेषु राष्ट्रेषु च कथङ्कारं लेशतोऽपि सम्पादनं स्यादिति चिन्ताऽऽतुरा एव प्रायशः समाजराष्ट्रहित-चिन्तका इति महान्तं महान्तं विज्ञानाविष्कारं दृष्ट्वाऽपि न कुत्राप्युक्तस्य सन्तोषादेरुपायमाविष्कृतमनुभवन्ति । प्रत्युत यावानेव विज्ञानाविष्कार उन्नतिं गच्छति तावदेव असन्तोषस्याशान्तेश्च मात्राप्यधिकाऽनुभूयते-लोकेषु । तस्मात्को वा उपायः अनुसरणीय इति विमर्शे दीयतां दृष्टिः प्राचीनेष्वितिहासेषु । रामराज्यादि-वर्णनं श्रुतवतः कस्य वा सचेतसस्तदानीं विद्यमानायाः सन्तोषशान्त्यादिप्रधानाया जनेषु वृत्तेर्न स्यादनु-भवः । नातिदूरे गम्यताम् , सार्धद्विसहस्रवर्षात्पूर्वमपि यादृशी अवस्था आसीत् सापि स्वप्नवदेवालीकतां गतेति स्पष्टमेव समेषाम् ।

उक्तायाः प्रतिदिनमपचीयमानायाः सन्तोषादिप्रधानाया वृत्तेः किं निदानमिति सम्यगालोचित एवास्याः प्रतीकारोपायोपि कश्चिदन्विष्टो भवेदिति तमेवालोचयामः । यावत्पर्यन्तं धर्मप्रधानताऽऽसीत् जनेषु समाजेषु राष्ट्रेषु च तावदेव खलु आसीत् सन्तोषशान्त्यादीनामस्खलितं साम्राज्यम् ।

यद्धि वर्ण्यते—

धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः पाल्यमानाः परस्परम् ।

इत्यादिना महाभारते । क्रमेणापचीयमाना धर्मप्रधानतैव उक्तवृत्तेरप्यपचयनिदानमित्यपि सुनि-श्चितमेव । सा च धर्मप्रधानता परलोकभीत्या अहिंसासत्याद्यनुष्ठान एव सम्भाव्यते । न खलु राजदण्डा-दिभयेन अहिंसास्तेयाद्यनुतिष्ठन् एकान्ते तत्परिहर्तुं शक्नुयात् । प्रत्युत यथा राजदण्डादि न भवेत् तादृ-ग्व्यवस्थाभिमुखी दृश्यते हिंसाद्यनुष्ठातृप्रवृत्तिः । सा च धर्मप्रधानता यदा समाजे नेतृपदवाच्येषु स्थिरीभवति तदैव नेयभूताः प्रजा अपि तमेव भावं स्वीकुर्वत्यः सन्तोषाद्यप्यनुभवन्ति ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

इति हि सर्वविदितमेव । इदानीं खल्वेतादृशी दुरवस्था यत् समाजे नेतृभूताः प्रायः सर्वेऽपि आङ्-ग्लशिक्षाविभूषिताः नास्ति परलोकः नास्तीश्वरः इत्यादिवादिनो धर्मप्रधानतां तिरस्कृत्यास्थिताः स्वयमशा-न्तिमसन्तोषञ्चानुभवन्तः कथं वा धर्मप्रधानतां तत्कार्यभूतां सन्तोषशान्त्यादिवृत्तिञ्च सम्पादयितुम-र्हन्ति प्रजासु ।

सा च परलोकभीतिः (धर्मप्रधानतामूलभूता) हिंसादिषु परलोकेऽनिष्टसाधनत्वज्ञानरूपा

केनोपायेनाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दिना उत्पत्तुमर्हतीत्यालोच्यमाने तथाभूतं प्रमाणरूपं समस्तदोषाशंकाकलङ्क-रहितं किंचिद्यदि उपस्थाप्यते पुरतस्तदैव तत्सम्भवेत्, इत्यतस्तथाभूतं किं मूलभूतं प्रमाणमित्यालोचने वेद एवास्माकं भारतीयानां पुरतः उपस्थितो भवति। वेदभगवतोऽतिप्राचीनस्य छायैव अन्येषामपि मोहम्मद-ख्रिस्टधर्मादीनां प्रादुर्भावः। सर्वत्र च परलोकभीतिरेव पुरस्कृता। तस्य च वेदस्य समस्तदोषशंका-रहितत्वे निश्चित एव प्रामाण्यं निश्चितं भवेदिति बुद्धिमत्सु समाजेषु तर्कद्वारा वेदस्यापौरुषेयत्वसाधन एव भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादि दोषरहितत्व निश्चयः सम्भाव्येतेति तर्कद्वारा वेदापौरुषेयत्व व्यवस्थापनमत्यावश्यकम्।

तेषु तेषु कालेषु धर्मप्रधानताया ह्रासे जाते वेदापौरुषेयत्वव्यवस्थापनमेवाकारि च भट्टपादा-दिभिः। अस्माकं तदयं वैदिकधर्मवृक्षः समूल उत निर्मूल इत्ययं विचार उपस्थाप्यते। तद्यथा—

'मीमांसकैराश्रितो वैदिकधर्मवृक्षः समूलः उत ऐतिहासिकरीतिपक्षपातिनां मतानुसारेण कल्पित' इति विषयोऽधुना विमृश्यते।

तत्र तावन्मूलस्य रसाकर्षकत्वेन स्वयमप्रकम्प्यत्वेन च वृक्षस्थितिहेतुत्वं तत्पोषकत्वं च दृश्यत इत्यतः 'तादृशमूलवत्वं वैदिकधर्मस्य कस्यां पद्धतौ' इति प्रथमं विचारणीयम्।

अत्र ऐतिहासिकपद्धतिवादिन आहुः।

साहित्यशास्त्रोक्तमर्यादानुसारेण हि नाटकादिषु सर्वत्रान्ते निर्वहणसन्धौ अद्भुतार्थकामस-मृद्धिं कीर्तिं च लोकोत्तरां फलत्वेनोपवर्ण्यमानां पश्यामः। न कुत्रापि स्वर्गप्राप्तिर्मोक्षो वा निर्वहणसन्धौ वर्ण्यत इति दृश्यते। अतः आचार्याभिनवगुप्तादिमतानुसारेण लोकोत्तरदृष्टफलकेष्वेव चरित्रेषु रसावहत्वं निश्चितमिति तादृशगुणबहुल एव विदग्धव्यवहारः समाजस्य स्थितिहेतुः सम्भवति। एवं विभावानुभावा-दिनिष्ठव्याप्ति संस्कारस्यैव रसोद्बोधकतायाः साहित्यशास्त्रेसिद्धान्तित्वात् कार्यकारणभावमूलकतर्कस्यैव रसहेतुत्वं निर्गतम्। तथा इतिहासप्रसिद्धवस्तूनामेव नाटके वर्ण्यमानतया साक्षिकथनस्येव प्रत्यक्षमूल-कस्य तस्य रसोद्बोधकतया प्रत्यक्षप्रमाणस्यापि रसोद्बोधकत्वं निश्चीयते। तथा च प्रत्यक्षानुमानमूलिका कीर्तिकरी अर्थकामाभिवृद्धिमती समाजव्यवस्थैव समाजस्य स्थितिहेतुर्भवितुमर्हति रसाकर्षकत्वाद प्रकम्प्यत्वाच्च।

तत्रार्थकामसमृद्धेः तत्कालपर्यन्तानुवर्तमानपूर्वसदाचारद्वारा सम्पद्यमानत्वे यद्यपि नास्त्येव परिवर्तनस्यावश्यकता, तथापि तत्कालपर्यन्तानुवर्तमानसदाचारद्वारा समाजस्यार्थकामयोर्हानौ दृश्यमा-नायां तत्परिवर्तनं समाजरक्षणार्थमपि अवश्यं विधेयमेव। प्राचीनसदाचारस्य विपरिवर्त्तनेन त्यागे क्रिय-माणे लोकनिन्दायाः प्रसज्यमानत्वेऽपि सुधीभिः मनोधैर्यमवलम्ब्य तत्प्रशंसां प्राचीनसदाचारस्योपेक्षां च विधाय वर्तितव्यम्। एवं सति सुधीभिरादियमाणं वस्तु कीर्तिकरमपि सम्पत्स्यत एवेति हिन्दुसमाज-व्यवस्था अक्षुण्णा भवितुमर्हतीति।

तत्रापरिवर्तनवादिनां मतामुपन्यस्यते। सत्यं, अर्थकामसमृद्धिमत्समाजस्यैव रसाकर्षकत्वं प्रत्यक्षानुमानमूलिकाया एव सामाजिकव्यवस्थायाश्च। अर्थकामसमृद्धिरेव तु कथं भवतीत्यालोच्यमाने प्रत्यक्षानुमानद्वारैव धर्मद्वारा भवतीति सिद्ध्यति। तथाहि—अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं भवतीति योगशास्त्रे अस्तेयव्रतस्य विभूतिः प्रतिपादिता। अत्रहि मनसाऽपि स्तेयसंस्कारो यथा नोद्बुद्धो भवेत् तत्पर्यन्तः परिपाकः अस्तेयव्रतस्य प्रतिष्ठा। एवंविधमस्तेयव्रतं तावत् सर्वरत्नोपस्थानं मे भवतु इति कामनया यद्यारभ्यते तर्हि न सम्भवत्येव, मानसिकं स्तेयमेव हि तत्, अतोऽवश्यवक्तव्यमापतति यत् तदनुष्ठानं मोक्षोद्देशेन वा धर्मोद्देशेनवा कर्तव्यं यत्रानुषङ्गिकं फलमेतद् यत् सर्वरत्नोपस्थानम्। एवमेव ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभ इति योगशास्त्रे प्रशस्यमानं ब्रह्मचर्यव्रतमपि। अतएव आपस्तम्बेन स्पष्टमुक्तम्, तद्यथा आम्रे फलार्थे सिच्यमाने छाया गन्धश्चानूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणेमर्था अनूत्पद्यन्ते' इति। आह भगवान् वेदव्यासोऽपि—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ इति ॥

अर्थकामशास्त्रे अपि अमुमेवार्थं पुष्णीतः। उक्तं हि कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥ इति।

आह च कामसूत्रकारो भगवान् वात्स्यायनः पूर्वोत्तरपक्षविन्यासपूर्वकम् न धर्मांश्चरेत्, एष्यत्फलत्वात्, सांशयिकत्वाच्च, को ह्यबालिशो हस्तगतं परगतं कुर्यात्, वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्, वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण, इति लौकायतिकाः, शास्त्रस्यानभिशङ्क्यत्वात् अभिचारानुव्याहारयोश्च क्वचित्फलदर्शनात्, नक्षत्रचन्द्र-सूर्य-तारा-ग्रहचक्रस्य लोकार्थं बुद्धिपूर्वकमिव प्रवृत्तेर्दर्शनात्, वर्णाश्रमाचार स्थितिलक्षणत्वाच्च लोकयात्रायाश्चरेद्धर्मानिति वात्स्यायन- इति।

अत एव कौटिल्येन इन्द्रियजय-विद्यावृद्धसंयोग-विद्याप्रचार-वर्णाश्रम-व्यवस्थानां शास्त्रारम्भ एव राजनीतिं प्रति मूलभित्तित्वेन वर्णनं कृतम्। नीतिसारकारेणापि स एव क्रमः स्वकीयग्रन्थे स्वीकृतः, 'गुणाः सम्पत्तिहेतव' इति संक्षिप्योक्तश्च। तदुपपत्तिरेवं वर्णिता टीकाकृता—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य लक्षणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ इति।
भारविरपि—वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ इति।

अतएव कामसूत्रे—'अलौकिकत्वादप्रवृत्तानां यागादीनां शास्त्रादेव प्रवर्तनम्, लौकिकेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्यः शास्त्रादेव निवर्तनं धर्मः' इति धर्मलक्षणं विदधता भगवता वात्स्यायनेन इन्द्रियजयविशेष एव धर्मत्वेन व्याख्यातः, चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति वदता जैमिनिना च पूर्वमीमांसायाम्। धर्मज्ञानोपायश्च

क इति जिज्ञासायां कामसूत्र एव "तं श्रुतेर्धर्मज्ञसमवायाच्च प्रतिपद्येत" इति सूत्रेण तत्र प्रमाणभूतं शास्त्रं श्रुतिरूपमेवेति स्फुटमुक्तम्। मनुनाऽपि—

'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥'

इत्यादि वदता स एवार्थो धर्ममूलत्वेनोपवर्णितः। इदं वेदस्य धर्ममूलत्वं सर्वथा युक्तितर्कोपष्टब्धमिति ऐतिहासिकपद्धतिविद्भिरपि अभ्युपगन्तुमुचितमेव। तथाहि—

वेदापौरुषेयत्वमेव प्रथमतस्तावद्विमृश्यते। यद्यप्यापाततः वेदः पौरुषेयः, वाक्यत्वात्, भारतादिवदित्यादि प्रयोगश्रवणमात्रेण वेदपौरुषेयत्वमेवानुमानसिद्धमिति भाति। तथापि सः अनुमानाभास एव। न हि पञ्चम्यन्तप्रयोगमात्रेण सर्वमेवानुमानं यथार्थत्वेनाभ्युपगन्तुमुचितम्, तथा सति हि 'गोमयं पायसं गव्यत्वातम् क्षीरवत्, नरशिरःकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खवत्, स्वस्त्री अगम्या स्त्रीत्वात् परस्त्रीवत्, इत्यादीन्यप्यनुमानानि स्वीकर्तुमुचितानि भवेयुः। अतः यत्र साध्यहेत्वोर्मध्ये व्याप्तिसम्बन्धस्य दृढतमत्वं तादृशान्येवानुमानानि हेत्वाभासरहितानि स्वीकर्तुमुचितानीति सर्वेषां तार्किकाणां सिद्धान्तः। पूर्वमीमांसकास्तु यत्र साध्यास्तित्वप्रयुक्तमेव हेत्वस्तित्वं भवति यथा वह्निधूमयोः, तादृशः सम्बन्ध एव व्याप्तिपदार्थ इति वर्णयन्तः, अतादृशस्थले व्याप्तिर्नैवाभ्युपगन्तुमर्हा इति वदन्तः तार्किकाणां पूर्वोक्तं सिद्धान्तमेव सुविशदीकुर्वन्ति।

पूर्वोक्तेषु च गोमयं पायसमित्याद्यनुमानाभासेषु कुत्रापि हेतुसत्ता साध्यास्तित्वप्रयुक्तेति वक्तुं न शक्यते। तथाहि योगसाधारणः क्षेमसाधारणश्चेति कार्यकारणभावो द्विविधः शास्त्रेषु प्रसिद्धः। अप्राप्तस्य प्रापणं योगः। लब्धस्य परिरक्षणं क्षेमः। यथा शरीरस्य योगकारणमदृष्टमातापित्रादि। क्षेमकारणं तु आहारभैषज्यादि। प्रकृते प्रथमानुमाने हेतुभूतस्य गव्यत्वस्य सत्तायां पायसत्वस्य सत्ता उभयथाऽपि न कारणं भवति। अतः साध्यास्तित्वप्रयुक्तं हेतुत्वस्तित्वं तत्रेति वक्तुं न शक्यते। एवमेवाग्रिमानुमानद्वयेऽप्यूह्यम्। तथा च उक्तविधकार्यकारणभावतर्कशून्येषु तेषु व्याप्तेरेवादृढत्वादाभासत्वं सर्वैस्तार्किकैरङ्गीक्रियते।

पूर्वोक्ते वेदपौरुषेयत्वानुमानेऽपि सैव दशा दृश्यते। तथाहि, तत्र पौरुषेयत्वं नाम न येन केनचित् पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वमेव। तथा सति अस्माभिरुच्चार्यमाणस्य रघुवंशादेरप्यस्मत्प्रणीतत्वकल्पनापत्तेः। किन्तु यत्पुरुषीयाद्योच्चारणविषयत्वं यत्र तत्र तत्पुरुषनिर्मितत्वम्। उच्चारणे आद्यत्वं स्वसजातीयोच्चारणनिरपेक्षत्वात् अन्यद्दुर्वचमिति स्वसजातीयोच्चारणनिरपेक्षोच्चारणविषयत्वमेव पौरुषेयत्वमिति पर्यवस्यति। तत्सापेक्षोच्चारणविषयत्वं च अपौरुषेयत्वम्, इति पौरुषेयत्वानुमाने साध्यस्वरूपपरिष्कार एतावता सम्पन्नः। तत्र हेतुभूतं वाक्यत्वमपि विमृश्यते। 'तच्च वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकाङ्क्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः" इत्युक्त्यनुसारेण आकाङ्क्षायोग्यता-सन्निधिमत्पदकदम्बत्वमेव इत्यायाति। एवंविधस्य विशिष्टपदसमूहत्वरूपहेतोरस्तित्वं पदसमूहोच्चारयितुः कस्यचित्पुरुषस्य असत्वे न सम्भवति इति यद्यपि स्वीकर्तुं शक्यते तथापि स्वसजातीयोच्चारणनिरपेक्षत्वं उच्चारणस्य तादृशहेतु-

स्तित्वे कारणमिति वक्तुं नैव शक्यते। तादृशनिरपेक्षोच्चारणं विनापि अस्मदादिभिः अयत्नेऽध्याप्यमानैर्बालै-रुच्चार्यमाणे रघुवंशादिवाक्ये पूर्वोक्तवाक्यत्वस्य दर्शनेन (यद्विनाऽपि यदुपपद्यते यथा रासभं विनाऽपि घटः स रासभस्तत्र घटे नैव कारणम् इति नियमानुरोधेन) पूर्वोक्तनिरपेक्षोच्चारणं विनाऽप्युपपद्यमानवाक्यत्वं प्रति निरपेक्षोच्चारणस्य कारणत्वाभावस्यैव सिद्धेः, पूर्वोक्तपौरुषेयत्वानुमाने साध्यास्तित्वप्रयुक्तं हेत्वस्तित्व-मित्येवं वक्तुमशक्यत्वेन व्याप्तेरदृढतया उक्तानुमानस्य शिथिलमूलत्वात् अनुमानाभासत्वस्यैव सिद्धेः एवंरीत्यैव सर्वाण्यपि पौरुषेयत्वानुमानानि साध्यास्तित्वहेत्वस्तित्वयोर्मध्ये प्रयोज्यप्रयोजकभावशून्या-न्येव समुपलभ्यन्ते। तानि पूर्वोक्तरीत्या सर्वाण्येव शिथिलमूलत्वात् नानुमानरूपाण्येवेति सुधीभिरूहित-व्यानि। विस्तरभयान्नेह निर्दिश्यन्ते।

वेदापौरुषेयत्वं तु सर्वथा हेत्वाभासरहितैस्तर्कैरेव सिद्ध्यति, इत्यकामेनाप्यैतिहासिकेन तदभ्यु-पगन्तव्यमेव। तथाहि-मीमांसका इत्थं वर्णयन्ति। विधिनिषेधयोः कस्तावदर्थ इति विमृश्यमाने, प्रवृत्ति-हेतुभूतज्ञानविषयः कश्चित् इति तावत् अविवादम्। तत्र नवीनतार्किकास्तावत् बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्ट-कृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनत्व-ज्ञानस्य प्रवृत्तिकारणताया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धत्वात् प्रवृत्ति-कारणीभूततादृशज्ञानस्य विषयीभूतो बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टकृतसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनत्व रूप एव विध्यर्थ इति साधयन्ति। श्रीमदुदयनाचार्यप्रभृतयः प्राचीननैयायिकास्तु आप्ताभिप्रायो विध्यर्थ इति वर्णयन्ति। तेषामयमाशयः। यद्यपि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टकृतिसाध्यताविशिष्टेष्टसाध-नताज्ञानमन्वयव्यतिरेकानुसारेण प्रवृत्तिं प्रति साक्षात्कारणमित्यत्र न विवादः, तथाऽपि आप्ताभिप्रायज्ञान-स्यापि परम्परया प्रवृत्तिकारणत्वमस्त्येव। तथा हि 'वत्स ! पठ !' इति पितुराज्ञां श्रुतवान् सुधीर्बालकः पठनं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टमदीयकृतिसाध्यत्वविशिष्टेसाधनत्ववत् मत्कर्तव्यतया मदीयाप्ताभिप्रायविष-यत्वात्, यत्कर्तव्यतया यदीयाप्ताभिप्रायविषयत्वं यत्र यत्र तत्र तत्र तदीयबलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टे-ष्टसाधनत्व-विशिष्टकृतिसाध्यत्वम् इति व्याप्तेः, आप्तत्वं तु भ्रमप्रमाद विप्रलिप्सा-करणापाटवरूपदोषच-तुष्टयरहितत्वमेवात्र विवक्षितम्, तेन भ्रान्तपित्रादिकृताज्ञायां न व्यभिचार इत्यादिरीत्या पठने कार्ये विशि-ष्टेष्टसाधनत्वमनुमिन्वानः सुधीर्बालकः पठने प्रवर्तते, इति विशिष्टेष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वे अविवादेऽपि, पूर्वोक्तानुमितिरूपे तादृशज्ञाने हेतुभूतं ज्ञानं हेतुज्ञानं पूर्वोक्तरीत्या आप्ताभिप्रायज्ञानमेव भवतीति तच्च पूर्वोक्तानुमितिद्वारा प्रवृत्तिं प्रति कारणं सम्पन्नमिति परम्परया प्रवृत्तिकारणीभूत-तादृशाप्ताभिप्रायज्ञानविषयीभूतः पूर्वोक्ताप्ताभिप्रायोऽपि प्रवृत्तिहेतुज्ञानविषय एवेति कृत्वा विध्यर्थो भवितुमर्हतीति सिद्ध्यति।

तत्र नव्यप्राचीनतार्किकमतयोर्मध्ये प्राचीनतार्किकमतमेव युक्ततरम्। तथा हि-अनन्यलभ्यः शब्दार्थो भवतीति सिद्धान्तः। पूर्वोक्तस्थले च आप्ताभिप्रायस्य विध्यर्थत्वाभ्युपगमे तद्बलेन पूर्वोक्तरीत्या इष्टसाधनत्वादिकं नव्यतार्किकाभिप्रेतमनुमानबलेन लब्धुं शक्यत इति भवति अन्यलभ्यम्। नव्य-तार्किकसिद्धान्ताभ्युपगमे तु प्राचीनतार्किकैः स्वीकृत आप्ताभिप्रायरूपोऽर्थः कथमपि लब्धुं न शक्यते।

न हि विशिष्टेष्टसाधनत्वहेतुना आप्ताभिप्रेतत्वमप्यनुमातुं शक्यते। बहूनामिष्टसाधनानामपि कार्याणां स्वयमेव इष्टसाधनत्वं गृहीत्वा अनुष्ठीयमानानां विषये ज्ञानगन्धेनापि रहितानामाप्तानां दर्शनेन तादृशस्थले आप्ताभिप्रायस्यापि वक्तुमशक्यत्वेन इष्टसाधनत्वादेराप्ताभिप्रायेण सह अनैकान्त्यात्। तथा च प्राचीनतार्किकाभिप्रेत आप्ताभिप्रायरूपोऽर्थः सर्वथा अनन्यलभ्यः, नव्यतार्किकाभिप्रेतस्तु अतथाविध एव इति प्राचीनतार्किकाभिप्रेत एवाप्ताभिप्रायो विध्यर्थ इति सिद्धम्।

स चाप्ताभिप्रायः पूर्वोक्तरीत्या प्रवृत्तिहेतुज्ञानविषयत्वात् प्रवर्तना इत्युच्यते, कार्यस्य प्रवृत्तेः भवनमुत्पत्तिं प्रति कारणत्वात् भावनेत्युच्यते, अभिधायकत्वसम्बन्धेन शब्दनिष्ठत्वात् शाब्दी-भावनेत्युच्यते, विधिनिमन्त्रणामन्त्रणेत्याद्यनुशासनेन तत्रैव शक्तिग्रहात् अत्रेदं बोध्यम्-लोके गुरुर्मां प्रवर्तयतीति व्यवहारवत् गुरूच्चारितलिङ् मां प्रवर्तयतीत्यादिव्यवहारात्, गुरौ लिङि वाक्ये गुरुवाक्या-वेदकपुरुषान्तरे च अनुगतं प्रवर्तकत्वं प्रवर्तनावत्त्वमेव वाच्यम्, तत्र गुरौ समवायेन प्रवर्तनावत्त्वमितरेषां तु क्रमेण तदभिधायकत्व-तद्वाचकघटितत्व-तद्वाचकोच्चारयितृत्व-सम्बन्धैः इति सम्बन्धाननुगमो न दोषाय। एको घटः एकं रूपं इत्यादिव्यवहारयोः समवायसामानाधिकरण्याभ्यां तार्किकैरङ्गीकृतत्वात्। 'निद्रालोकमिच्छामि" इति कुम्भकर्णस्य वरप्रार्थनावाक्ये शब्दगतायाः प्रवर्तनायाः कुम्भकर्णाशयविपरीताया एव अङ्गीकृतत्वात्। एवमेव रजिस्ट्रीवाक्यप्रतिज्ञावाक्यराजशासनवाक्यादीनां अलौकिकप्रवर्तना-बोधकत्वं ज्ञानेश्वरकथा-वैरोचनबलिकथा-अष्टमएडवर्ड राज्यत्यागवृत्तान्तादिषु लोकेऽपि सर्वैरेवाभ्युपगम्यते इति पूर्वोक्तार्थसिद्धिः। एतादृशशाब्दीभावनायाः कार्यभूता पुरुषप्रवृत्तिस्तु अर्थयते कामयते फलमिति व्युत्पत्त्या अर्थसंज्ञकपुरुषनिष्ठत्वादार्थी भावना इति व्यवह्रियते।

सेयं पुरुषप्रवृत्तिरुपार्थीभावना पूर्वोक्तरीत्या मध्यवर्तीष्टसाधनत्वाद्यनुमितिजन्येति पूर्वोक्त-शाब्दभावनया सह तस्याः स्वज्ञानाधीनानुमितिजन्यत्वरूपः परम्परासम्बन्धः सर्वैस्तार्किकैरङ्गीक्रियत एव। तथा च सर्वत्र विधिवाक्यस्थले विध्यर्थभूतायामार्थभावनायां विध्यर्थभूताया एव शाब्दभावनाया अन्वयो भवतीति स्वीकारेण सर्वस्माद्विधिवाक्यात् आर्थभावना पूर्वोक्तसम्बन्धेन शाब्द भावनावती इत्येव अन्वयबोधो भवतीति मीमांसकैः सिद्धान्तितम्। स्वसिद्धान्तस्थिरीकरणे उपोद्बलकतया साहित्यमर्यादामप्येवं समुपस्थापयन्ति ते। तथाहि—देवदत्तः स्वयमेव पाकादेरिष्टसाधनत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञात्वा पाकं सम्पूर्ण-मनुष्ठाय भोजनार्थं यत्र उत्सुकस्तिष्ठति, तत्र तस्मिन् समये 'अरे देवदत्त! त्वं पच' इति वक्तुरुपहास्यतैव दरीदृश्यते। सा नव्यतार्किकमते कथमपि नोपपद्यते। तन्मतरीत्या हि पाकः इष्टसाधनमित्येव तत्र विध्यर्थः पर्यवसन्नः। तत्र अयथार्थत्वं तु किमपि नैव वक्तुं शक्यते, इति तन्मतरीत्या सा उपहास्यता कथमपि नोपपादयितुं शक्यते। मीमांसकरीत्या तु उपपन्ना भवति।

तथाहि—तत्र स्थले देवदत्तस्य आर्थभावनारूपा पाके प्रवृत्तिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वयमेव पाका-देरिष्टसाधनत्वमनुमाय सम्पन्ना। न तु पूर्वोक्तरीत्या विधिवाक्यश्रवणानन्तरमाप्ताभिप्रायरूपशाब्दी-भावनामवगम्य तद्विषयत्वेन हेतुना पाकादेरिष्टसाधनत्वमनुमाय सम्पन्ना, इति प्रकृतस्थले पुरुषप्रवृत्ति-

रूपार्थभावनायाः प्रकृतविधिवाक्यावगम्यमानशाब्दभावनया सह स्वज्ञानाधीनानुमितिजन्यत्वसम्बन्धो न अणुमात्रेणापीति कृत्वा मीमांसकरीत्या शाब्दबोधेऽङ्गीक्रियमाणे पूर्वोक्तविधिवाक्यात् शब्दस्वाभाव्याल्लभ्यमानः पूर्वोक्तसम्बन्धेन शाब्दभावनावती आर्थभावना इत्ययमर्थः सर्वथामिथ्याभूत एवेति तद्वाक्योच्चारयितुरनृतवादितया उपहास्यत्वमुपपद्यत इति सिद्धं मीमांसकाभिप्रेत एव विध्यर्थः सूपपन्नः इति । अस्य विस्तरो मीमांसकग्रन्थैरेवावगन्तव्यः । एवं सिद्धे मीमांसकाभिप्रेतविध्यर्थस्वरूपे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यध्ययनविधिरुक्तविधविध्यर्थज्ञानमन्तरेण क्रियमाणं धर्मानुष्ठानं विफलमेवेति वदन् मीमांसकानां मन्वादीनामद्य यावदनुवर्तमानधर्मानुष्ठानहेतुं उक्तनुमितिं तद्धेतुभूतमुक्तप्रवर्तनाज्ञानं च अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चयरूपं गमयति, इति प्रत्यक्षानुमानप्रामाण्यवादिनामैतिहासिकानां शैली जागरूकतया मीमांसकैः सर्वत्र धर्ममूलविचारे परिपाल्यत इति सिद्धम् ।

एवं सिद्धायामैतिहासिकशैल्यैव पूर्वोक्तानुमितौ तत्रत्यपक्षसाध्यहेत्वादिविमर्शो नाप्रस्तुतः । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्ये हि यागःस्वर्गसाधनं स्वर्गकामकर्तव्यतया (आप्ताभिप्रायविषयत्वात्) आप्तप्रवर्त्तनाविषयत्वात् इतिमन्वादिभिः क्रियमाणायामनुमितौ यागः पक्षः स्वर्गसाधनत्वं साध्यं; तादृशप्रवर्तनाविषयत्वं च हेतुः इति तावदविवादम् । तत्र कीदृशं हेतुस्वरूपं पुरस्कृत्य मन्वादिभिः पूर्वोक्तानुमितिः क्रियते स्म इति सपरिष्कारमालोचनीयतामर्हति । हेतुज्ञानं हि अनुमितेः प्राणाः, अतः हेतुस्वरूपमपरामृश्य अनुमितिर्न सम्भवत्येव । न हि धूममविज्ञाय पर्वते वह्निरनुमातुं शक्यते धूमेन । तदत्र प्रवर्तनाविषयत्वहेतुकानुमाने त्रैविध्यं लोके दरीदृश्यते । तथाहि प्रभुशक्तिसमृद्धराजाज्ञारूप-प्रवर्तना-विषयत्व हेतुना इष्टानिष्टसाधनत्वे अनुमाय लोको नियमितो भवति राजशासनेषु । तत्र हि हेतुतावच्छेदककोटौ राजा, तस्य प्रभुशक्तिसमृद्धिश्च द्वयं वर्तमानतयाऽनुभूयमानमपेक्ष्यते । तद्विपर्यये तु राजशासनं मृतमित्येव व्यवह्रियते उक्तंच भारविणा—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥ इति ।

केनापि हेतुना राजाज्ञारूपप्रवर्तनाविषयत्वस्य उक्तानुमितिकरणेऽसमर्थत्वग्रहणं मरणमिति सर्वैरनुमन्यत एव । अयमेकः प्रकारः प्रवर्तनाविषयत्वहेतोः, यत्र हेतुतावच्छेदककोटौ प्रवर्तक-पुरुषनिष्ठ-प्रभुशक्तिरवश्यं ज्ञातव्या भवति अनुमित्सद्भिः । अयमेव प्रभुसम्मित उपदेश इत्याख्यायते । द्वितीयस्तु अनुमेयगतेष्टसाधनानिष्टसाधनत्वविषयकप्रमात्मकज्ञानवत्पुरुषसमवेतप्रवर्तनाविषयत्वहेतुकानुमितिस्थले दृश्यते, यथा लौकिकाप्तोच्चारितेषु वाक्येषु । अत्र हेतुतावच्छेदककोटौ प्रवर्तकपुरुषस्य अनुमेयेष्टसाधनत्व-विषयकयथार्थज्ञानवत्त्वं प्रवर्तकपुरुषस्यावश्यं ज्ञातव्यं भवति । केवलप्रवर्तनाविषयत्वं च तादृशस्थले प्रवर्तकस्य तादृशयथार्थज्ञानवत्वानिश्चये अप्रयोजकत्व शङ्काकवलितं शिथिलमूलमेव भवति । बुद्ध-मुम्महद-ईसादिप्रणीतधर्मेषु अयमेव प्रकार आदृतः ।

तृतीयस्तु प्रकारः वैदिकवाक्ये एव मीमांसकैरादृतो दृश्यते ।

अनादिसिद्धसजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणकानुपूर्वीसम्बन्धिप्रवतनाविषयत्वहेतुना हि यागा-

दौ स्वर्गादिसाधनत्वमनुमिन्वन्ति मीमांसानुयायिनः । इतिप्रकारत्रयमप्येतदैतिहासिकैर्नापलापयितुं शक्यम् । मन्वादिभिः क्रियमाणायां धर्मानुष्ठानमूलभूतानुमितौ चायं तृतीय एव प्रकारः सम्भवदुक्तिक-ऐतिहासिकानामपि । पूर्वोक्तप्रकारद्वये तत्राभ्युपगम्यमाने हि हेतुतावच्छेदक-कोटिप्रविष्ट-पूर्वोक्तप्रवर्तक-पुरुषगुणज्ञानं तेषामावश्यकं भवेत् । मन्वादयश्च ऐतिहासिक-शैल्यैव धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसमृद्धतया वर्ण्यमाना वेदस्य क्वचिदपि कर्तारं न स्मरन्ति, स्वशिष्याणां पूर्वोक्तानुमितिनिर्माणाय न चाप्युपदिशन्ति, इति पूर्वोक्तप्रकारद्वयं मन्वादीनां धर्मशास्त्रानुष्ठानहेतुभूतानुमितौ असम्भवदुक्तकमेवेति परिशेषात् तृतीय एव प्रकारः समायाति, इति अस्माकमिव मन्वादीनामपि सर्वेषां वैदिकानां पुरतः परम्परया पठ्यमानवेद एव मूलभूततयावलम्बनीय आसीदिति सिद्धम् ।

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा ॥

इति तर्ककर्कशविचारचातुरीधुरीणाः सावधानमालोचयन्तु । क्षुद्राक्षेपास्त्वाकरेष्वेव निरस्ता इति नेह वितन्यन्ते ।

अन्यैरपि तर्कैर्वेदापौरुषेयत्वं सिध्यति । तथा हि उपवेदानां पर्यालोचने क्रियमाणे तेऽप्यनादिपरम्परामूलका इत्यभ्युपगन्तव्यमापद्यते । गान्धर्ववेदः षड्जादिस्वरसमाहारात्मक इति सर्वविदितमेव । षड्जत्वादिविवेकः उपदेशसहकृतश्रावणप्रत्यक्षेणैव भवतीति भामत्यादिदर्शनेन स्पष्टम्, गान्धर्वविद्भिर्गायनाचार्यैरपि अयं सिद्धान्तः अभ्युपगम्यते । अतएव संगीतरत्नाकरादिग्रन्थेष्वपि मातुशब्दवाच्यानि गानानि अनादिपरम्परामूलकानि अपौरुषेयाणि, इत्यभ्युपगतम् । तथा च—

'गान्धर्ववेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्'

इत्यनुमानं प्रसरति । तेनैव न्यायेन षड्जादिस्वरसमूहात्मकस्य सामवेदस्यापौरुषेयत्वे नास्त्येव विप्रतिपत्तेरवकाशः । तेनैव न्यायेन उदात्तादिस्वरसमूहात्मकस्येतरस्यापि वेदग्रन्थस्य सर्वस्य गुरुपरम्परामूलकत्वं निःसंशयमेव प्रतीयते, इति गान्धर्वोपवेदद्वारा वेदस्यापौरुषेयत्वं पर्यवस्यति ।

आयुर्वेदोपवेदद्वारा ऽपि अयमर्थः सिध्यति । तथाह्युक्तम् उदयनाचार्यैरात्मतत्वविवेके—"तथाहि न तावदयमायुर्वेदोऽप्रमाणम्, संवादस्य प्रायिकत्वात्" "न चास्यान्वयव्यतिरेकभावो मूलम् आवापोद्वापेन योगानामनन्ततया अर्वाचीनेनाशक्यत्वात् । विषादौ तथा करणे बहुतरानर्थ प्रसङ्गात्" इति । औषधीनां तक्रकरकादीनां शीतत्वोष्णत्वे प्रत्यक्षमुपलभ्येते, तद्विपरीते उष्णत्वशीतत्वे तु अपौरुषेयागमैकगम्ये एव ।

एवं विरुद्धसंयोगानां परिगणनं हि इतोऽन्ये विरुद्धसंयोगा न भवन्तीति सूचनद्वारा समस्तविरुद्धसंयोग-परिगणनाशक्तमनुष्यबुद्धिपूर्वकत्वाभावमायुर्वेदस्य सूचयद् वेदमूलकतां द्रढयति । पाश्चात्यानां चिकित्सा-पद्धतिरपि मूलतः भारतीयायुर्वेदमेव अङ्गीकरोति इति स्फुटम् 'कश्यपसंहिता' भूमिकादृशाम् । तर्कतोऽप्येतत्सिध्यति-कुमारभृत्यां विना हि जातस्य शिशोः संरक्षणमेव दुःशकमतः अपौरुषेयमूलकत्वमेव वक्तव्यमापतति आयुर्वेदस्य । मनुष्यसृष्टिश्च अत्र अनादिपरम्परामूलिकैव तर्कतः सिध्यति । अतः आयुर्वेदपरम्परा स्वस्य स्वमूलभूतवेदेन सह अनादित्वं स्थापयति ।

धनुर्वेदस्तु अनेकमन्त्रग्रामात्मकास्त्रबहुलः साम्प्रतमुपलभ्यमानोऽपि गुरूपदेशमन्तरेण न कार्यकारी दृश्यते, पूर्वं च कार्यक्षम आसीत् गुरुमुखादवगम्यमान इति च इतिहासो दृश्यते यदा, तदा तस्यापि अध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमासीत् इति सिध्यति इति सर्वथा सिद्धं वेदस्यापि मन्त्रसमूहात्मकस्यानादित्वम्। अत एव गौतमेनाप्युक्तम्। मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति। मन्त्राणामनादित्वं च स्पष्टं विवेचितं भामत्यां विज्ञेषु विदितमेव।

चतुर्थ उपवेदः अर्थशास्त्राणि तत्र प्रधानतया विविच्यमानं स्वत्वं वस्तु दायभागकृन्मते शास्त्रैकसमधिगम्यमेव। मिताक्षराकृन्मते प्रत्यक्षमपि शास्त्रीयोपायाभिव्यङ्ग्यमिति सत्यपि अवान्तरमतभेदे न अनादिशास्त्रनिरपेक्षिणी स्वत्वकल्पनमिति सर्वेषामनुमतमेव।

अर्थ शास्त्रे प्रधानतः प्रतिपाद्यो न्यायोऽपि, शास्त्रोपदिष्टा परिपालनव्यवस्था न्याय इत्यर्थशास्त्रे समुपवर्णनात् शास्त्रसापेक्षः। तथा च अर्थशास्त्रं ब्रह्मणा प्रथमतः प्रणीतमिति महाभारते इतिहासोपलम्भात् स्वमूलभूतं वेदमेव प्रख्यापयति, तथा च मनुष्यबुद्ध्यनधीनत्वम अपौरुषेयत्वं सिद्धं वेदानाम्, इति चतुर्णामपि उपवेदानामालोचनेन वेदापौरुषेयत्वं सिद्धम्।

वेदा अपि स्वात्मानमपौरुषेयतयैव प्रकाशयन्ति। तथा हि–यत्साक्षादपरोक्षात्' इत्यादि-श्रुतिप्रतिपादितमपरोक्षमपि ब्रह्मतत्त्वं—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।'

इति कण्ठरवेण वेदो गुरूपदेशगम्य एवेति वदति। "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्, तन्त्वौपनिषदं पुरुष पृच्छामि" इति वदन् गुरोरपि ब्रह्मज्ञानं वेदाधीनमेवेति ब्रह्मज्ञान मेवच सर्ववेदतात्पर्यविषय इति च वदन् सकलमेव वेदमपौरुषेयं वदति। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादि च वदन् स्वयमेव सकलवेदतात्पर्यविषयत्वं ब्रह्मणो वदति। तथा च वेदेन स्वस्यापौरुषेयत्वं प्रकाश्यते इत्यत्र न संशयः।

केवलकर्मकाण्डालोचनेनापि अपौरुषेयत्वं वेदानां प्रमाणेन दृश्यते। तथाहि। "शौचाशौचे शब्दैकमूलके" इति सर्वेषामविप्रतिपत्तिरेव, ते च समस्तेन कर्मकाण्डेन सर्वदोपजीव्येते। तथा च कथं पुरुषबुद्धिमूलकत्वं वेदानां कल्पयितुं शक्यम्।

अत्र वेदाध्यनसामान्यादित्यस्य विहितवेदाध्ययनसामान्यादित्यर्थः। तच्च अर्थज्ञानपर्यन्तमेव न चैतद् गुरुमुखाध्ययनं विना सम्भवति।

न हीदं भारतस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकमित्यनेन तुल्यम्। इतिहासमात्रप्रचिख्यापयिषया प्रवृत्तस्य भारतस्याध्ययने गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणस्यानावश्यकत्वात्। नचेमे शौचाशौचे अपलपितुं शक्ये, शौचेन धृतेः, अशौचेन च शीतलारोगादिवृद्धेरपस्माराद्देश्चोत्पादात्।

सूर्यमण्डलं तावत्कैश्चित्पार्थिवैरिन्धनैर्दीप्यते इति वैज्ञानिका वदन्ति। दह्यमानानां वस्तूनां लोपः प्रत्यक्षसिद्धः। अष्टाविंशतिकलियुगपर्यन्तं दीप्यमानस्य तेजोराशेः पुनः समिन्धनं केन क्रियते इत्यालोच्यमाने—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'—

इति स्मृत्युक्तदिशा अग्नौ आहुतिप्रक्षेपेणैव तस्योपजीवनं भवतीति अवश्यं वक्तव्यमेव, सूर्यमण्डलं प्रति आहुतिगमनं सूक्ष्मरूपेण वेदान्तसिद्धान्तसिद्धं, तच्च वेदेनैव विभज्य प्रतिपाद्यते। 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते, यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः, सामवेदेनास्तमये महीयते, वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' इति कण्ठरवेण च भगवान् वेदो वैज्ञानिकानामपि संमानार्हं स्वस्यापौरुषेयत्वं प्रतिपादयति। ब्राह्मणमातापितृसापेक्षाणां प्रत्यक्षसिद्धानां ब्राह्मणादिजातीनामपि वैदिककर्मप्रभवत्वं वदन् वेदस्तदेव द्रढयति 'ऋग्भ्यो जातं वर्णं वैश्यमाहुरित्यादिना। किम्बहुना 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः' 'वाचा विरूपनित्यया' 'ब्रह्म स्वायम्भु अभ्यानर्षत्' इत्यादिना स्वयं स्ववाचैव स्वस्यापौरुषेयत्वं प्रतिपादयति इत्यन्तर्गतैर्बहिर्गतैश्च प्रमाणैरपौरुषेयत्वमेव सिद्धं भवति वेदानाम्। यावदेव आलोच्यते तावदेव दृढतरमपौरुषेयत्वमेव सिद्धयति वेदानामित्यलमतिशयेन। विस्तरस्तु तन्त्रवार्तिके द्रष्टव्यः।

एवं सिद्धे स्वसजातीयोच्चारण-सापेक्षोच्चारणसामान्यकत्वरूपे वेदस्यापौरुषेयत्वे कामशास्त्रोक्तं तस्यानभिशङ्क्यत्वमपि सिद्धयति। तथाहि प्रामाण्यं अर्थगतसत्यत्वादन्यद्दुर्वचम्। तच्च वेदान्तिमते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि-श्रुतिबोधित-सत्यस्वरूपब्रह्मतादात्म्यवत्त्वैव ज्ञानमात्रे विषयस्य भानाभ्युपगमात् स्वतः सिद्धमेव स्वतो ग्राह्यमित्युच्यते। एवं भट्टमते कालसम्बन्धित्वमेव सत्यत्वं स्वतः सिद्धं, 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते' इति तदुक्तेः। एवं ज्ञानमात्रस्वप्रकाशतावादिप्राभाकरमते ज्ञानविषयत्वरूपं सत्यत्वं, ज्ञानमात्रस्यैव तन्मते यथार्थत्वात्। अतएव शुक्तिरजतादिभ्रमस्थलेऽपि सत्यतादात्म्यस्य स्वभावतः स्फुरणादेव रजतार्थिनां प्रवृत्तिरुत्पद्यते। पश्चाद्बाधकज्ञाने सति दुष्टकरणजन्यत्वशङ्कायां वा सत्यां पूर्वमपि प्रातिभासिकरजतादौ मिथ्यात्वग्रहात् पूर्वगृहीतं प्रामाण्यमपोद्यते। एवं च प्राप्ताप्राप्तविवेके क्रियमाणे मिथ्यात्वेनाज्ञायमानरजतविषयकज्ञानस्यैव शुक्तिरजतादिस्थले प्रवृत्तिहेतुत्वमिति पर्यवसिते मिथ्यात्वेनाज्ञायमानत्वरूपं प्रवृत्तिप्रयोजकमर्थगतं सत्यत्वं यत्पूर्वमसीत् तदेव कारणदोषबाधकज्ञानादिसम्भवे प्रातिभासिकरजताद् विलुप्यतीति सिद्धयति। भूतले घटानयनान्तरं घटाभावस्येव मिथ्यात्वेन ज्ञायमानतादशायां तेन रूपेणाज्ञायमानतारूपस्य तदभावसमशीलार्थसत्यत्वस्यापि विलोपे कस्याप्यविप्रतिपत्तेः। अयमेव विलोपः कारणदोषबाधकज्ञानाभ्यां पूर्वसिद्धस्य प्रामाण्यस्यापवादपदार्थ इत्यत्रापि न कस्यापि विप्रतिपत्तिः।

नैयायिका अपि हि अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितस्य शुक्तिरजतज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं मन्यन्ते। तन्मतानुसारेणापि प्रवृत्तिप्रयोजक कोटिप्रविष्टम् अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितत्वं ज्ञानगतं वेदान्तिमतसिद्धेन मिथ्यात्वेनाज्ञायमानत्वरूपेणार्थगतसत्यत्वेन समशीलमेव, इति नास्ति कोऽपि मतयोरनयोर्विशेषः॥

एवं च बाधकज्ञानकारणदोषज्ञानादिभिः नैयायिकमतेऽपि प्रवृत्तिप्रयोजकीभूतस्य अप्रामाण्य-ज्ञानानास्कन्दितत्वस्य अपवादो निरपवाद एव। एवंविधस्य प्रामाण्यस्य 'परतः प्रामाण्यमितिवादिभिः नैयायिकैः स्वतःप्रामाण्यवादिनामुपरि दीयमानं दूषणमप्यस्थान एवाधुना सम्पन्नम्। वेदान्तिमते साक्षिप्रत्यक्ष-ग्राह्यत्वात्सन्देहविपर्ययाद्यविषयत्वं, नैयायिकमते तु प्रतियोगिस्मरणयोग्यानुपलब्धिसहकृतमनोजन्यप्रत्यक्ष-विषयत्वसम्भवस्थले मनोग्राह्यत्वाम् असम्भवस्थले पिच सन्देहविपर्ययाद्यविषयत्वमेव। ज्ञानाज्ञानविषयक-सन्देहं प्रति ज्ञानाज्ञनयोः स्वरूपत एव हि त मते प्रतिबन्धकत्वम्। तदुक्तम् न हि जानन्नेव न जानामीति प्रत्येति, इति। अत्र जानन्निति अजानन्नित्यस्याप्युपलक्षणम्। न जानामि इति च जानामि इत्यस्यापि, अनुभवतौल्यात्। भट्टगुरुमतयोरप्ययमेव न्यायः। तथा च सर्वमतेऽपि मिथ्यात्वेन अज्ञायमानत्वस्य प्रवृत्ति-प्रयोजकप्रामाण्यस्य असंदिग्धत्वरूपस्वतःसिद्धत्वे अविप्रतिपत्तिरेव। परतःप्रामाण्यमिति वादिभिः नैयायिकैः स्वतःप्रामाण्यवादिनामुपरि दीयमानं दूषणमप्यस्थान एव अधुना सम्पन्नम्। नहि त्रिकालाबाधितत्वरूपं व्यावहारिकसत्यत्वं सर्वथा अबाध्यत्वरूपं पारमार्थिकसत्यत्वं वा उत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा स्वतः-सिद्धमिति वेदान्तिनो भाट्टाः प्राभाकरा वा वदन्ति। तस्यातीन्द्रियकालत्रयघटितत्वेन वेदान्तिमतरीत्या साक्षिभास्यत्वासम्भवात्, तदन्यमतरीत्या असन्दिग्धत्वासंभवाच्च। परतस्त्वस्यैव तैरङ्गीकारात्। एवं च तदभाववति तदप्रकारकत्वरूपप्रमात्वस्य ज्ञानगतस्य प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वरूप-वेदान्तिमतसिद्धार्थगतसत्यत्वसमशीलस्य परतस्त्वं नैयायिकैरुच्यमानं न कश्चिदपराधः, तद्विषये उभयोरपि समशीलत्वात्। तथा च उभयमतरीत्याऽपि तदनुमेयमेव न साक्षिमात्रभास्यम्। तदनुमितिस्तु संवादिप्रवृत्तिजनकत्वादिभिर्हेतुभिरुभयमतेऽपि कर्तव्यैव।

स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यजन्यबोधे ऐहिकदेहानुपभोग्य-पारलौकिक-सुखसाधनताविषयके संवादिप्रवृत्तिजनकत्वस्य हेतोर्ज्ञानं कस्यापि न संभवतीति तादृशबोधस्य त्रिकालाबाध्यवस्तुविषयकत्वं कथमनु-मेयमित्ययमंशः परं विमर्शनीयः। अत्रेदमालोच्यतामर्हति। संवादिप्रवृत्तिविषयत्वेन हेतुना त्रिकालाबाधितवि-षयकत्वरूपं प्रामाण्यमनुमीयते इति वदतां नैयायिकानाम् एकमात्रेणानेनैव हेतुना त्रिकालाबाध्यवस्तुविषयकत्वा-मनुमेयमिति नाशयः।इयं पृथिवी इति ज्ञाने हि प्रामाण्यं गन्धवद्विशेष्यकत्वे सति पृथिवीत्वप्रकारत्वेन हेतुना-ऽपि अनुमीयत इति हि ते वदन्ति। तथा च संवादिप्रवृत्तिजनकत्वं प्रामाण्यानुमितौ हेतुरिति तेषामभिधानं यथासम्भवमन्येषामपि हेतूनामुपलक्षणमित्येव तेषामाशयः। अतः स्वर्गकामादिवाक्यजन्यबोधसाधारण्येन व्यावहारिकसत्यत्वानुमितिहेतवः के वा सम्भवन्तीत्यधुना विमृश्यते।

तत्र नैयायिकमते तावत् ज्ञानसामान्य एव विशिष्टविषयकत्वं नाम अग्रे विवक्ष्यमाणस्वरूपं प्रामाण्यचिह्नं स्वतोग्राह्यं स्वीकृतमस्ति, इति हेत्वाभास-सामान्यनिरुक्ति-गूढार्थतत्त्वालोकादि-ग्रन्थदर्शिनां स्फुटम्। तथाहि। यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धत्वं तत्त्वं हेत्वाभासत्वमिति लक्षणे पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादिसद्धेतुस्थलेऽपि पर्वतो वह्न्यभाववानित्यादिप्रमात्मकज्ञानमादायानुमिति-प्रति-बन्धकीभूततादृशज्ञानविषयत्वस्य प्रमाविषयीभूते पर्वतादौ सत्त्वात् हेत्वाभासलक्षणस्यातिव्याप्तिमाशङ्क्य

यद्विषयकत्वव्यापिका प्रकृतानुमिति-प्रतिबन्धकता तत्त्वं हेत्वाभासत्वमिति लक्षणे परिष्क्रियमाणे पर्वतादौ नातिव्याप्तिः, पर्वतविषयकस्य पर्वतो वह्न्यभाववानित्यादियत्किञ्चिज्ज्ञानस्य अनुमितिप्रतिबन्धकत्वेऽपि पर्वतविषयकाणामेव बहूनां ज्ञानानां पर्वतो वह्निमान्, पर्वतो धूमवान्, पर्वतः पाषाणमयः, पर्वतः सुन्दरः' इत्यादीनामनुमित्यप्रतिबन्धकत्वेन प्रागुक्तपरिष्कृतलक्षणे यत्पदोपादेय-पर्वतविषयकत्वं तादृश-बहुज्ञानसाधारणं प्रति अनुमितिप्रतिबन्धकतायाः तादृशबहुज्ञानावृत्तेः व्यापकत्वासम्भवात्, इति सद्धेतु-स्थले प्रागुक्तातिव्याप्तिर्नास्ति, इति सिद्धान्तिते पुनः 'ह्रदो वह्निमान धूमात्' इत्याद्यसद्धेतुस्थले साध्या-भावत्पक्षरूप-बाधहेत्वाभासस्य वह्न्यभाववद्ध्रदादेः परिष्कृतलक्षणानुसारेण यत्पदेनोपादाने 'विशिष्टं शुद्धा-न्नातिरिच्यते' इति इतिन्याये न तादृशह्रदविषयकत्वस्य शुद्धह्रदविषयकेषु ह्रदो जलवान् ह्रदो मीनवान् ह्रदः शैवालवान् इत्यादिषु बहुषु ज्ञानेषु विद्यमानतया अनुमिति-प्रतिबन्धकत्वस्य च पूर्वोक्तरीत्यैव तादृशबहुज्ञाना-वृत्तित्वेन अव्यापकतया यद्विषयकत्वव्यापिका प्रकृतानुमितिप्रतिबन्धकता नैव जातेति लक्षणस्य अनुपपत्ति-माशङ्क्य यद्विषयकत्वपदेन विशिष्ट विषयकत्वमेव लक्षणे विवक्षितं तेन शुद्धह्रदविषयकज्ञानानां विशिष्ट-विषयताशून्यत्वात् तादृशविशिष्टविषयतावतः एकमात्रस्य ह्रदो वह्न्यभाववान्'इति ज्ञानस्य नियमेन अनु-मितिप्रतिबन्धकत्वात् यादृशविशिष्टविषयकत्वव्यापकं प्रकृतानुमितिप्रतिबन्धकत्वं तादृशविशिष्टत्वमिति हेत्वाभासलक्षणे परिष्क्रियमाणे न काऽप्यनुपपत्तिः, इत्यभिहितं हेत्वाभासग्रन्थे। अत्र गूढार्थतत्त्वालोकप-त्रिकायां सकलनैयायिकसम्प्रतिपन्नोऽयमर्थ एवमाविष्कृतः। अस्ति यथार्थज्ञानमात्रे शुद्धविषयकत्वादन्यद्वि-शिष्टविषयकत्वमप्यनुभूयमानं, ह्रदो वह्न्यभाववानितिज्ञानानन्तरं वह्न्यभाववद्-ह्रदमहं जानामीति पूर्वो-त्पन्नं ज्ञानं प्रत्यवमृश्यते लोके, तदेव विशिष्टविषयतायां प्रमाणम्। तथाहि–पर्वतो वह्न्यभाववान्, इति भ्रमानन्तरमपि तस्य भ्रमत्वाज्ञानदशायां यद्यपि वह्न्यभाववत्पर्वतमहं जानामि, इति प्रत्यवमर्शः पूर्वोक्तयथार्थज्ञानप्रत्यवमर्शेन सह तुल्य एवोदेति, तथाऽपि गृहीतमात्र एव ज्ञानस्य भ्रमत्वे तादृशप्र-त्यवमर्शः पुनर्नोत्पद्यते। पर्वतो वह्न्यभाववानितिज्ञानस्य भ्रमत्वे गृहीते हि पर्वतं वह्न्यभाववत्तया जानामि, इत्येव वदन्ति लौकिकाः, नतु जातुचिदपि वह्न्यभाववत्पर्वतमहं जानामीति वदन्ति। तेन विशिष्टविष-यकत्वप्रत्यवमर्शो भ्रमत्वाज्ञानदशायामेव जायते, अन्यथा तु न भवति, इति लौकिकोऽनुभवः। पर्वतो वह्न्यभाववानिति भ्रमे च भ्रमत्वाज्ञानरूपदोषवशात् पूर्वं वह्न्यभाववत्पर्वतमहं जानामीत्याकारको विशिष्टविषयकत्वावगाही प्रत्यवमर्शः तादृशदोषजन्यत्वात् भ्रमरूप एवेति न ततो विशिष्टविषयक-त्वसिद्धिः। ह्रदो वह्न्यभाववान् इत्यादियथार्थज्ञानेषु तु वह्न्यभाववद्ध्रदमहं जानामीत्यादि-प्रत्यवमर्शस्याबाधितत्वात् विशिष्टविषयकत्वसिद्धिः निष्प्रत्यूहेति साधितम्। तद्विस्तरो गूढार्थतत्त्वा-लोक एव सम्यगालोचनीयः।

इदमत्रावधेयम्-हितोपदेशादिषु वर्ण्यमानायां त्रयाणां धूर्तानां कथायां यज्ञार्थमजं स्वस्कन्धेना-हरतो ब्राह्मणस्य मया आनीयमानम् अजमहं जानामीति जातोऽपि यथार्थः प्रत्यवमर्शः,विशिष्टविषयक-त्वविषयकः प्रथमधूर्तवाक्येन एकाकितया दुर्बलेनाप्रतिबद्धोऽपि द्वितीयधूर्तवाक्येन किंचित् प्राबल्यभाजा

समुत्पादितायामप्रामाण्याशङ्कायां पुनः स्कन्धादवरोप्य परीक्षणेन अप्रामाण्यशङ्कायामपनीतायां कथंञ्चित् स्थिरीकृतोऽपि तृतीयधूर्तवाक्ये श्रुते दुर्बलहृदयेन ब्राह्मणेन बहुजनविपरीतत्वमात्रेण हेतुना स्वचक्षुषि असद्भूतमपि दोषविशेषं कल्पयित्वा परित्यक्तोऽजः इतिवर्णनोपलम्भाद् गृहीतमपि विशिष्टविषयकत्वं ज्ञानगतं अप्रामाण्यज्ञाने सति अन्तर्हितं भवति इति स्वीक्रियते, न पुनर्नास्त्येवेति। तादृशाजज्ञानस्य यथार्थत्वेन विशिष्टविषयकत्वानपायात्। अतः यथार्थज्ञानमात्रस्य निर्दुष्टकरणजन्यतया स्वत एव विशिष्टविषयकत्वं समस्तीति प्रामाण्यचिह्नमेतत् उत्पत्तौ स्वतः सिद्धमपि धूर्तत्रयप्रतारितब्राह्मणवत् दुर्बलहृदयस्यान्तर्हितमपि सम्भवति इति स्थिते, स्वर्गकामादिवाक्यजन्यबोधेऽपि दुर्बलहृदयानामन्तर्हितमपि अतथाविधान स्फुटमेव। तदुक्तं श्रुतिजन्यबोधमधिकृत्य संक्षेपशारीरके—

पुरुषापराधमलिना धिषणा निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि यथा।

न फलाय भङ्गुविषया भवति श्रुतिसम्भवाऽपि तु तथात्मनि धीः' ॥ इति ॥

अनेन हि वाक्येन पुरुषापराधेनैव यथार्थमपि ज्ञानं श्रुतिसम्भवम् अप्रामाण्य-शङ्काकबलितं सत् फलकारि न भवति इति यदुच्यते, तत् वेदान्ति-मतरीत्या पूर्वोक्तस्य मिथ्यात्वेनाज्ञायमानत्वस्य अर्थगत-सत्यत्वस्याप्रामाण्यशङ्कया अपवादात्, नैयायिकमतरीत्या विशिष्टविषयकत्वरूपस्य प्रमात्वचिह्नस्य ज्ञानगतस्य अप्रामाण्यशङ्कया कवलितत्वादुपपद्यते, इति अत्र विषये मतद्वयस्यापि समशीलत्वमेव सम्पन्नम्।

उत्सर्गापवादसिद्धान्तोऽयं तर्कखण्डनप्रस्तावे खण्डनखण्डखाद्यकृता यो निरूपितः तत्स्वरूपस्य अपि खण्डनोद्धारग्रन्थपर्यालोचनया बाधकैकापनोद्यो नियम उत्सर्ग इति लक्षणलक्षित एव सम्यगवबोधे सम्यगेव स्थिरीभवति। तथाहि नियमो व्याप्तिः, तस्या बाधकैकापनोद्यत्वं नाम बाधकाभाववत्स्थलीय-व्यक्तिमात्रनिष्ठत्वम् यथा प्रदेशविशेषव्यापिनि पर्जन्ये छत्राद्यावरणरहिततत्प्रदेशस्थमूर्तद्रव्यमात्रे जलसंस्पर्शनियमः तत्प्रदेशस्थमूर्तत्वं स्वसामानाधिकरण्यसंबन्धेन आवरणरहितत्वविशिष्ट—जलसंयोगव्याप्यमिति स्थिते व्याप्यतावच्छेदककोटौ छत्राद्यावरणाभावस्य निविष्टत्वात् व्याप्तेः किंचिदभावावच्छिन्नत्वं यदागतं तदेव बाधकापनोद्यत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः। एवं चैतादृशव्याप्तिग्रहः व्यभिचारशङ्कायामसत्यां यद्यपि अक्लेशसाध्य एव तथाऽपि सत्यां तस्यां तर्कबलेनापि सिद्ध्यति। तथाहि—पूर्वोक्तोदाहरण एव मेघविमुक्तोदकबिन्दुक्रियारूपवर्षणस्य कार्यं अभिमुखीभूताधरदेशस्थितमूर्तद्रव्यसंयोगः। तत्र च अन्तरालस्थितं छत्राद्यावरणं प्रतिबन्धकम्, आभिमुख्यसम्बन्धेन वर्षणक्रियारूपजलसंयोगकारणविशिष्टं निरावरणमधःप्रदेशस्थं मूर्तञ्च प्रतिबन्धकाभावघटितजलसंयोगीयसकलकारणविशिष्टमिति तादृशमूर्तत्वं सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन सामग्रीयुक्तं सम्पन्नम्। तादृशं विशिष्टमूर्तत्वं यदि जलसंयोगव्यभिचारि स्यात् सामग्रीवि-श्र शिष्टं न स्यात्, इति तर्कोऽत्र समुदीयमानः पूर्वोक्तामुत्सर्गरूपां व्याप्तिं ग्राहयति इति हि सर्वविदितमेव।

तथा च ज्ञानप्रामाण्यस्थलेऽपि पूर्वोक्तरीत्या तत्तन्मतानुसारेण सत्तादात्म्यकालसम्बन्धित्वादि-सत्यत्वविशिष्टविषयकत्वं ज्ञानसामान्य-सामग्री-प्रयोज्यम्, मिथ्यात्वेनाज्ञायमानविषयकत्वं च दोष-

ज्ञानाभावबाधक ज्ञानाभावप्रयोज्यम्, इत्युभयं तत्प्रवृत्तिप्रयोजकम् इतिरीत्या पूर्वोक्ताभावद्वयसहकृतज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यज्ञानत्वे तद्विषयकत्वव्याप्तिरुत्सर्गरूपा सिद्धा।

तदुक्तं श्लोकवार्तिके—तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते॥ इति।

अयं च उत्सर्गतर्कः भट्टपादैः रेवाविष्कृतः नइत्युक्त्वा खण्डनकारेण निरूपितं चैतत् ईश्वराभिसन्धौ वेदप्रामाण्ये तथा येन सौगतोऽपि न विप्रतिपत्तुमर्हति इति वदता स्तुतः। त्रिकालाबाध्यवस्तुविषयकत्वस्य प्रमात्वस्य सिद्धिरपि अनेनैव तर्केण भवति। तथाहि मिथ्यात्वेनाज्ञायमानवस्तुविषयकत्वस्य पूर्वोक्तरीत्या सिद्धौ विशिष्टविषयकत्वरूपं नैयायिकोक्तं प्रामाण्यचिह्नमभिव्यज्यते। तेन च तादृशप्रमात्वसिद्धिः, विशिष्टविषयकत्वस्य तादृशप्रमात्वव्याप्यतायाः पूर्वमेव व्यवस्थापितत्वात्। एवं चानभ्यासदशापन्नज्ञाने 'इदं ज्ञानं प्रमा न वा इति' संशयानुपपत्तिः प्रामाण्यस्य स्वतो ग्राह्यत्वे इत्युक्तेः सत्वेऽपि विशिष्टविषयकत्वरूपप्रामाण्यचिह्नस्य स्वतोग्राह्यत्वे कस्याप्यविवादात् अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानमात्रे प्रत्यवमृश्यमानस्य तस्य चिह्नस्य त्रिकालाबाध्यवस्तुविषयक त्वरूपप्रमात्वानुमापकत्वे अविवाद एव सर्वेषाम्। तादृशविशिष्टविषयकत्वेऽनुभूयमानेऽपि यदि दैवात् व्याप्त्यादिसंस्कारस्यानुद्बोधः तदा तत्काले तस्य चिह्नस्यापि प्रामाण्यानुमित्यपर्याप्ततया अनभ्यासदशापन्नज्ञाने 'इदं ज्ञानं प्रमा न वा' इति संशयोत्पत्तिः सम्भवतीति नैयायिकानामाशयोऽपि समुपपन्न एव।

अत्रेदं बोध्यम्। प्रामाण्यापवादकारणीभूतं तावद् बाधनिश्चयः दुष्टकरणजन्यत्वज्ञानं चेति उभयं पूर्वंनिरूपितं, श्रुतिजन्ये तत्प्रयोज्ये वा यागादिनिष्ठस्वर्गसाधनतादिज्ञाने पूर्वोक्तापवादकयोर्मध्ये बाधनिश्चयस्तावत् कालत्रयेऽपि न सम्भवत्येव। प्रतियोगिग्रहणसमर्थस्यैव तदभावबोधकत्वस्य रसाभावादेश्चक्षुरादीन्द्रियाग्राह्यत्वोपपत्तये वक्तव्यत्वेन यागनिष्ठस्वर्गसाधनत्वाग्राहिणः प्रत्यक्षप्रमाणस्य तदभावबोधकतायाः कालत्रयेऽपि वक्तुमशक्यत्वात्। तद्बाधे उक्तरीत्या प्रत्यक्षस्यासमर्थत्वे तन्मूलानामनुमानादीनामपि असमर्थत्वं सिद्धमेव। तथा च केनापि प्रमाणेन यागादिनिष्ठस्वर्गसाधनत्वादेरभावनिश्चयरूपो बाधः कालत्रयेऽपि वक्तुं न शक्यत इत्यायातम्। द्वितीयमपवादकं दोषज्ञानमपि द्विविधं, निश्चयात्ममेकम्, अपरं च संशयरूपम्। तयोर्मध्ये निश्चयात्मकं दोषज्ञानं श्रुतिजन्यबोधे न सम्भवत्येव तज्जन्यबोधस्य भ्रमत्वे निश्चित एव खलु तादृशभ्रमात्मकं निश्चितकार्यं प्रति अन्वयव्यतिरेकादिना कल्प्यमानस्य कारणविशेषस्य भ्रमजनकत्वरूपं दोषत्वं निश्चेतव्यं भविष्यतीति भ्रमस्यैव असंप्रतिपत्तौ कुतस्त्या दोषजन्यत्वनिश्चितिः कल्प्येत? इति दुष्टकरणजन्यत्वनिश्चितिरुक्तस्थले तर्कविरुद्धैव।

दोषजन्यत्वसंशयोऽपि द्विविधः। तज्जातीयं ज्ञानं प्रति परिगणिता भ्रमत्वहेतुभूता ये दोषास्तन्मध्ये अन्यतमजन्यत्वसंशयरूप एको दोषजन्यत्वसंशयः। द्वितीयस्तु विदग्धपरिगणितातिरिक्तोऽपि कश्चनदोषः स्यात् इति सम्भावनया जायमानस्तज्जन्यत्वसंशयरूपो दोषजन्यत्वसंशयः। तत्र आद्यप्रकारस्तावत्प्रकृते न

सम्भवति । तथाहि । प्रत्यक्षजातीये ज्ञाने दूरत्वादिरूपा अनुमानजातीये च पञ्चविधहेत्वाभासरूपा दोषा इव शाब्दबोधेऽपि भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवरूप-चतुष्टयान्यतमवत्पुरुषोच्चरितत्वरूप दोषा विदग्धचूडामणिभिः शास्त्रज्ञैः परिगणिता एव सन्ति । श्रुतिजन्यबोधस्थले प्रागुक्तरीत्या श्रुतेरपौरुषेयत्वेन वक्तुरेवाभावात् भ्रमप्रमादविप्रलिप्सा-करणापाटवाद्यन्यतमवत्पुरुषोच्चरितत्वं शाब्दबोधदोषः नैव तर्कितुं शक्यते, इति विदग्धैः परिगणितदोषेषु अन्यतमदोषशङ्कारूप-दुष्टकरणजन्यत्वसंशयस्याद्यप्रकारः प्रकृते सर्वथा न सम्भवतीति सिद्ध्यति । एतदेवाभिहितं कामसूत्रव्याख्यायां जयमङ्गलायां बौद्धेनापि टीकाकृता 'शास्त्रस्यानभिशङ्क्यत्वाद्' इत्यादि पूर्वोक्तसूत्रं व्याचक्षाणेन—

'दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु युज्यते । वेदे वक्तुरभावात्तु दोषशङ्कैव नास्ति नः ।

तथा च दुष्टकरणजन्यत्वसन्देहस्याद्यप्रकारे निरस्ते विदग्धापरिगणितदुष्टकरणजन्यत्वसम्भावनारूपैका शङ्काऽवशिष्यते । सा तु प्रामाणिकाव्यवहार्यैं, तादृशदोषसम्भावनाया विदग्धपरिगणितहेत्वाभासादिष्वपि सम्भवेन अनुमानज्ञानादिष्वपि सम्भवात् प्रामाणिकव्यवहारमात्रस्यैवोच्छेदकत्वात् ।

यद्विषयकनिश्चयोत्तरानाहार्यमानसज्ञाने विरोधिविषयताप्रयुक्तः पक्षे साध्यवैशिष्ट्यावगाहित्वस्य तद्व्याप्यहेतुवैशिष्ट्यावगाहित्वस्य च द्वयोर्व्यतिरेक इत्यादिहेत्वाभासलक्षणवत् यद्विषयकनिश्चयोत्तरानाहार्यमानसज्ञाने शाब्दबोधविषयविषयकत्वस्य तत्कारणज्ञानविषयविषयकत्वस्य च द्वयोर्व्यतिरेकस्तत्त्वं शब्ददोषत्वमिति लक्षणस्यापि दण्डापूपिकयैव सिद्धत्वात् ।

किंच वैदिकप्रवर्तना-लिङ्गक-मन्वादिसमवेतेष्टसाधनत्वानुमितौ कस्यापि हेतुदोषस्य केवलानुमानैकशरणतया पर्यालोच्यमानेऽपि अत्र विषये वक्तुमशक्यतैव । प्रवर्तनाबोधस्य शाब्दबोधात्मकस्यास्मिन्पक्षेऽनभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । इमानि पदानि वाक्यतात्पर्यविषयीभूतार्थबोधेच्छयोच्चरितानि अनाप्तानुच्चरितत्वे सति आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वात्, इत्याद्यनुमानेन वैशेषिकैर्वाक्यार्थबोधमात्रस्यैवानुमितावन्तर्भावं वदद्भिः वैदिकलिङ् प्रवर्तनाऽनुमितीच्छयोच्चरितः, अनाप्तानुच्चरितसतात्पर्यकलिङ्त्वात्, लौकिकप्रवर्तनाबोधकलिङ्वदित्यनुमानस्यापि सूचितत्वेन तत एव प्रवर्तनानुमितेः पूर्वोक्तरीत्यैव हेत्वाभासरहितायाः प्रमाभूतायाः सम्भवेन इष्टसाधनत्वानुमतिहेतुभूतप्रवर्तनाया अनुमानेनैव सिद्धेः । वैदिकलिङ्घर्मिकानुमितौ साध्यमानेच्छा तु अध्यापकपरम्परेच्छैव तादृशी सम्भवति इति न कोऽपि दोषः । अनुमान-प्रामाण्य-वादिभिश्च परिगणित-हेत्वभास-शून्यहेतोरनुमीयमानार्थविपरीतार्थसाधकानुमितेर्भ्रमत्वनियमोऽङ्गीकृत एव । तदुक्तम् सामान्यनिरुक्तिगादाधर्याम् "अथवा तत्त्वनिर्णयः साध्यवत्ताज्ञाने प्रमात्वनिर्णयः । तत्र च अनुमापकहेतोर्व्याप्त्यादिविशिष्टत्वरूपसद्धेतुत्वज्ञानमिव विपरीतकोटिसाधकहेतोर्दुष्टत्वज्ञानमप्युपयुज्यते । प्रकृतसाध्यग्रहाप्रामाण्यग्राहकविपरीतकोटिसाधकहेत्वा दुष्टत्वाप्र विघटनद्वारेति ।

अदुष्टकरणजन्यत्वज्ञानादेव ज्ञानस्य प्रामाण्यं व्यवहारालयेष्वापि स्वीक्रियते । गुणवतां साक्षि-

णामलाभस्थले हि दोषवत्तया अनिश्चितानामपि साक्षिणां परिग्रहो व्यवहारालयेषु दृश्यते। पारलौकिक-श्रेयःसाधनरूपधर्मविषये निर्दुष्टकरणजन्यस्य वेदजन्यज्ञानस्य प्रमात्वानभ्युपगमः उक्तव्यवहारन्याय-विरुद्ध इत्यत्र कस्य वा विप्रतिपत्तिर्भवितुमर्हति। गुणवत्साक्षिस्थलेऽपि गुणवत्त्वेन निर्दोषत्वमनुमायैव साक्षिणः साक्ष्यं परिगृह्यते। न तु साक्ष्यमूलभूतं ज्ञानं मानान्तरजनितम आत्मनि समुत्पाद्येति लोकसि-द्धमेतत् यत् क्वचिदपि साक्ष्यस्थले निर्दुष्टकरणजन्यत्वज्ञानमेव साक्ष्यस्य प्रमात्वे चिह्नम्।

अदुष्टहेतोरसाधकत्वशङ्कायां तु अनुमानप्रामाण्यस्यैवोच्छेदः प्रसज्येतेति न्यायालयद्वाराणि सद्य एव प्रतिबद्धव्यानि स्युरिति प्राड्विवाकैरेव विमर्शनीयमेतत्। 'वस्तुतस्तु ज्ञानस्यापरिपूर्णत्वमेव भ्रमत्वं सर्वाणि ज्ञानानि स्वविषये यथार्थान्येव इत्यख्यातिवादिनां मतम्। तादृशमपरिपूर्णं ज्ञानं भ्रमसा-मान्ये कारणमिति ख्यात्यन्तरवादिनां मतम्। मतद्वयेऽपि कुत्रचिज्ज्ञाने भ्रमत्वकल्पनायां कर्तव्यायां सर्वैरपि ख्यातिवादिभिः स्वरूपतः कारणतो वा ज्ञानस्यापरिपूर्णता प्रसाधनीयैव, अन्यथा भ्रमत्वकल्पनानुपपत्तेरिति सर्वसम्प्रतिपन्नोऽयमर्थः। कोटिस्मरणरूपज्ञानस्य धर्मिज्ञानसम्प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियो-गित्वरूपमिथ्यात्वपर्यवसितासंसर्गतद्व्याप्यान्तराज्ञानवैशिष्ट्यं नव हि अपरिपूर्णत्वम्। ततोऽन्यस्य दुर्वचत्वात्। तथा चैतादृशापरिपूर्णत्वकल्पना प्रतिपन्नोपाधौ धर्मिणि कोटेस्त्रैकालिकनिषेधस्य तद्व्या-प्यस्य वा प्रमाणान्तरप्रतीतत्वे एवोपपद्यते। वैदिकवाक्यजन्ययागादिनिष्ठस्वर्गसाधनत्वादिबोधस्थले च अपरिपूर्णत्वमुक्तरूपं कथमपि वक्तुमशक्यमेव स्वर्गसाधनत्वाद्यभावस्य तद्व्याप्यस्य वा केनापि प्रमाणेन ज्ञातुमशक्यत्वस्यैव पूर्वमुपपादितत्वात्। तथा च यथोक्तज्ञानस्य अपरिपूर्णत्वमाआशङ्कितुमपि न शक्यते। तथा च अपरिपूर्णज्ञानमेव भ्रमः, इत्याचार्याभिनवगुप्तपादाचार्यसम्मतमतानुसारेण यथोक्तज्ञानानां परि-पूर्णत्वमेव प्रमात्वचिह्नमिति स्फुटम्। अयमाशयः अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभास-त्वमिति हेत्वाभासलक्षणं विदधद्भिः नैयायिकैः भङ्ग्यन्तरेणाभिहितः, यागादिस्वर्गसाधनत्वबोधप्रतिबन्धक-यथार्थज्ञानस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वेन यथोक्तहेत्वाभासरूपदोषशून्यत्वस्य ज्ञानगतपरिपूर्णताया एव निजहे-त्वाभासलक्षणद्वारा तैर्व्यञ्जितत्वात्। वेदान्तिभिरपि अधिष्ठानाज्ञानस्य भावरूपस्य भ्रमसामान्यहेतुत्वं वदद्भिः प्रमाणसिद्धस्यैव अज्ञानविषयत्वं स्वीकृत्य तस्याधिष्ठानस्य सर्वथाऽप्रामाणिकत्वेन यथार्थज्ञानावि-षयत्वे तदज्ञानस्य भ्रमहेतुत्वं वक्तुमशक्यमेव इति तादृशस्थले ज्ञानस्यापरिपूर्णत्वं शङ्कितुमशक्यमित्येव समर्थ्यते, इति अदुष्टकारणजन्यस्य ज्ञानस्य भ्रमत्वाशङ्का नैव सम्भवति इति सर्वतन्त्रसिद्धान्त सिद्धः। 'अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्' इत्युक्तेरपि अयमेवाशयः। 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इत्येतत्पूर्वार्धानुसारेण आहार्यशाब्दबोधस्याभ्युपगमे शाब्दबोध-प्रतिबन्धकयथार्थज्ञान-विषयत्वरूपदोषलक्षणस्यासम्भवेऽपि यद्विषयकेत्यादि पूर्वोक्तलक्षणं सम्भवत्येवेत्यादि न विस्मरणीयतामर्हति। व्यवहारोपयोगिशाब्दबोधस्यानुमानेनान्तर्भावप्रकारस्तु विस्तरेण वैशेषिकैः प्रपञ्चित इति नेह प्रतन्यते। नैया यिकमीमांसकास्तु कर्कोटकप्रेरितनलमहाराजक्रियमाणसंख्यानान्तर्गतदशेतिवाक्यस्थले घटादन्यइत्यादिवाक्यस्थले च अनुमितावन्तर्भावयितुमयोग्यस्यापि शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात्तस्य च व्याप्तिपक्षधर्मताद्यननुसन्धानद-]

शायामाकाङ्क्षायोग्यताद्यनुसन्धानमात्रेण जायमानतया सामग्रीसम्पादने लाघवात् स एव बोधोऽध्ययनविधितात्पर्यविषयीभूतः वेदवाक्येभ्यो भवति इति वदन्तीत्यन्यदेतत्। प्रत्यक्षानुमाने एव प्रमाणे इति शपथवतां जनानां तु पूर्वोक्तावैशेषिक प्रक्रिया धर्मनिर्णये सहायिका भवत्येव, इति सिद्धमुभयमतरीत्याऽपि शास्त्रस्य अनभिशङ्क्यत्वम्। वात्स्यायनसूत्रोक्तमन्यदपि तथैव। अभिचारानुव्याहारशब्दितस्य शान्तिकपौष्टिकर्मणः फलसाधनत्वमपि रामायण-भारतादीतिहासदर्शिनां स्पष्टमेव। न हि मोहम्मदीयानां भारतवर्षे साम्राज्यमधुना अनुष्ठातुमशक्यमिति इतिहाससिद्धं तत्साम्राज्यम् अपलप्येतैतिहासिकैः। तथा प्रकृतेपि तुल्यम्।

उक्तं चात्र विषये न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायाम् "मन्त्रायुर्वेदेषु प्रवृत्तिसामर्थ्यानुमितप्रामाण्येषु वैदिकशान्तिकपौष्टिककर्मादरेनुष्ठानात् रसायनादिक्रियारम्भे च वेदविहितचान्द्रायणादिप्रायश्चित्तोपदेशात् आयुर्वेदेनाप्याप्तप्रणीतत्वेन वेदानां प्रामाण्यमभ्युपेयते। तत्सिद्धम् आप्तप्रणीता वेदाः प्रमाणमिति। अभ्युच्चयमात्रं कारीर्यादिषु संवाद 'इति। नक्षत्रचन्द्रतार'ग्रहचक्रस्य शुभाशुभसूचकत्वं हि अधुनाप्यनुऽभूयत एव। अत एव पाश्चात्येष्वपि शुभाशुभसूचका ज्यौतिषिणः समाद्रियन्ते।

लोकयात्राशब्दिता लोकस्थितिस्तु वर्णाश्रमाचारस्थितिरूपैवेति चार्वाकैरेव स्वीकृतम् इति व्यक्तं जयमङ्गलायाम्। अत एव'नीति-कामशास्त्रानुसारेण वर्तनं धर्म इति हि तेषां धर्मलक्षणम्' इति सर्वदर्शनसंग्रहे चार्वाकमतप्रस्तावे। कौटिल्येनापि त्रयीस्थापनप्रकरणे त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदती'ति पूर्वोक्तवाक्येन लोकगतस्य प्रसादावसादाभावरूपस्य समुच्चितस्य द्वयस्य त्रय्येकसाध्यत्वं पूर्वोक्तरीत्याऽऽविष्कृतमेव। अन्यथा मर्यादाभेदनेन अर्थकामविषये किंचित्कालपर्यन्तव्यापिसमुत्कर्षप्राप्त्या प्रसादविशेषलाभेऽपि वर्तमानपाश्चात्यसभ्यताया इव पार्यन्तिकदुरवस्थाया अपरिहार्यत्वेन अवसादप्राप्तिर्दुर्निवारैवेति हि रोमन-ग्रीकप्रभृत्यगणितपाश्चात्यसभ्यताविनाशदर्शिनां नः प्रत्यक्षमेवेति दरमुकुलितलोचनमैतिहासिकैरालोच्यमेवात्र विषये। नीतिसारकृताप्ययमेवांश उक्तः—

'स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽयं सर्वेषां वर्णिलिङ्गिनाम्।
अस्याभावे तु लोकोऽयं सकरान्नाशमाप्नुयात्॥'

इति मीमांसकपद्धतिरेव धर्मनिर्णयविषये स्वीकरणीयतामर्हति ऐतिहासिकशैलीविदामपि।

अत एव कामसूत्रेऽप्युक्तम्।

"किं स्यात्परत्रेत्याशङ्का कार्ये यस्मिन्न जायते। न चार्थघ्नं सुखं चेति शिष्टास्तत्र व्यवस्थिताः"इति।

सुदीर्घस्य परलोककालस्य आशङ्काकरस्य विद्यमानत्वे परलोकभीरूणामार्याणां प्रामाणिकतार्किकाणां चोपनीतमप्यैहिकं सुख वध्याय नीयमानं मिष्टान्नमिव प्रहर्षजनकमपि न सम्भवत्येवेति त्रय्या रक्षितस्यैव प्रामाणिकतार्किकादेः प्रसादसिद्धिर्भवतीति कौटिल्येन यदुक्तं तदप्यविकलम्। "धर्माविरुद्धो लोकेषु कामोऽस्मि भरतर्षभे"ति भगवतापि उपपादितमिदमेव मतम्।

तथा च परिस्थितिविशेषे प्रायश्चित्तापनोद्यानां धर्मातिक्रमाणां सम्भवेऽपि प्रायश्चित्तानपनोद्यानां महापातकादीनामभ्यस्तापपातकादीनाम्, अग्राह्यवचनतापादकतया साक्षिप्रकरणे उपपातकस्य परिगणितत्वात्सकृत्कृतानामप्युपपातकानां परिहरणेनैव समाजस्थितिः परिकल्पयितुं शक्या प्रामाणिकतार्किकैर्नान्यथेऽति सिद्धम्। अयमेव सर्वोर्थः न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामाचार्यवाचस्पतिमिश्रैरुपपादितो यथा—

"तत्र शाक्याद्यागमानां बुद्धऋषभादयः प्रणेतार इति स्फुटतरमस्ति स्मरणम्। न तु उक्तलक्षण ईश्वरस्तेषां कर्तेति। नचैते शौद्धोदनिप्रभृतयः तनुभुवनादीनां कर्तारोयेत सर्वज्ञाइति निश्चीयेरन्। तदुपायानुष्ठानेन तु सम्भाव्येतैषां सर्वज्ञता, न च सम्भावनामात्रेण तत्प्रणीतेषु आश्वासःप्रेक्षावतां भवितुमर्हति। न चैतेषामागमा वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाहेतवः, नो खलु निषेकाद्याः क्रियाः श्मशानान्ताः प्रजानामेते विदधति। न हि प्रमाणीकृतबौद्धाद्यागमाअपि लोकयात्रायां श्रुतिस्मृतीतिहास-पुराण-निरपेक्षागममात्रेण प्रवर्तन्ते। अपि तु तेऽपि साम्प्रतमेतदिति ब्रुवाणा लोकयात्रायां श्रुत्यादीनेवानुसरन्ति। तस्मात् भवतु वेदेषु जगन्निर्मातृकर्तृकत्वश्रुतिर्मा वाभूत्। त एव तु ईश्वरप्रणीता इति पश्यामः। नह्येते चैत्यवन्दनादिवाक्यवदन्यकर्तृकाः स्मर्यन्ते। न वान्य आगमो लोकयात्रामुद्वहन् महाजनपरिगृहीत ईश्वरप्रणीततया स्मर्यमाणो दृश्यते। न चेश्वरः अनुपदिशन् अवस्थातुमर्हतीत्युक्तम्। तत्पारिशेष्याद्वेदा एव सकललोकयात्रामुद्वहन्तः हिताहितप्राप्तिपरिहारोपायमुपदिशन्त ईश्वरप्रणीता इत्यवगच्छामः। तथा ह्यत एव त्रैवर्णिकैर्यथायावत्प्रयत्नेन गृह्यन्ते धार्यन्ते च। तदर्थपालनाय च महर्षिपरम्पराभिरङ्गेतिह स-पुराणधर्मशास्त्राणि प्रणीतानि। बुद्धादिवाक्यानि तु न लोकयात्रामुद्वहन्ति न च तत्र लौकिकानामविगानम्। न च विगायतां सांवृतमित्युक्त्वापि तदर्थानुष्ठनम्। तस्माद्विगानात् कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिर्मनुष्यापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहान्नैतेषामाप्तोक्तत्वसम्भव इति।

वेदानामीश्वरप्रणीतत्वमत्रोक्तं पूर्वोक्तवेदापौरुषेयत्वाविरोधि यथा सम्भवति तथोपपादितमुत्तरमीमांसायां शास्त्रयोनित्वाधिकरणे इति न पूर्वापरविरोधः शङ्क्य इत्यलम्।

विदुषां महिमा

श्रद्धेया विद्वांसो विष्णो ब्रह्मण्यदेव ! ते तनवः ।
निजगुणवचनाचरितैस्तमो हरन्तः पुनन्ति भुवम् ॥

मर्यादामानवतेत्यादिपदैरुक्तलोकधृतिनीतेः ।
वक्तारः कर्तारो विद्वांसस्ते न कैर्वन्द्याः ?

इच्छां प्रमाणयन्तो म्लेच्छाश्चेन्नीतिमस्थिरयमाणाः ।
उच्चाटयन्ति विदुषस्तुदन्ति जगदेव किं कुर्मः ॥

गुणिविरले पापिकलाविहेह भाग्येन केऽपि विद्वांसः ।
उदिता यैरेव मतौ स्वे स्वे काले धृता धरणी ॥

अपि पूर्वेषां तेषां गुणगणकणगायनेन वाङ्मनसे ।
सद्यः पवित्रयेम स्वस्त्यस्मभ्यं तदनुगेभ्यः ॥

प० प० विष्णु स्वामी (मे० वल्लभरामजी)

MEHTA VALLABHRAMJI.

as a Sanyasi.

श्री मे० पं० बिहारीलालजी

मातुलपुण्यस्मृतिमिव विद्यालयमेतमुच्चकैरतनोत् ।
निजपूर्वजपथगामी स विहारीलालमेहता धन्यः ॥

जन्म सं० १६११] [परलोक सं० १६७६

स्थापन सं० १६८०
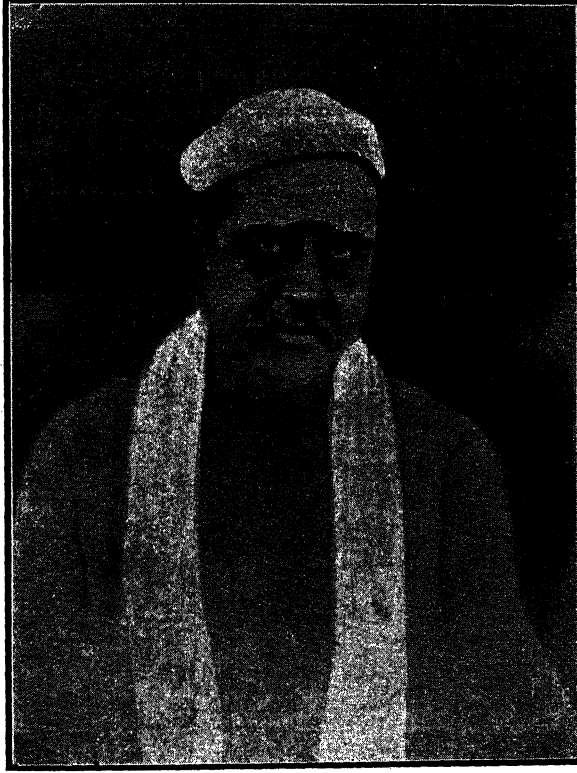
MEHTA BEHARILALJI

He founded this Vidyalaya in memory of his maternal uncles Mehta Vallabhramji and Saligramji in Samvat 1977.

प० प० वामनस्वामी (पं० मुकुन्द रामजी)

श्रीमान्मुकुन्दरामस्त्वगण्यपुण्यो यदागतः काशीम् ।
मध्यान्हे, संन्यस्तः सायं, प्राप्तः परं पदं रात्रौ ॥

जन्म सं० १८६६] [परलोक सं० १९६६
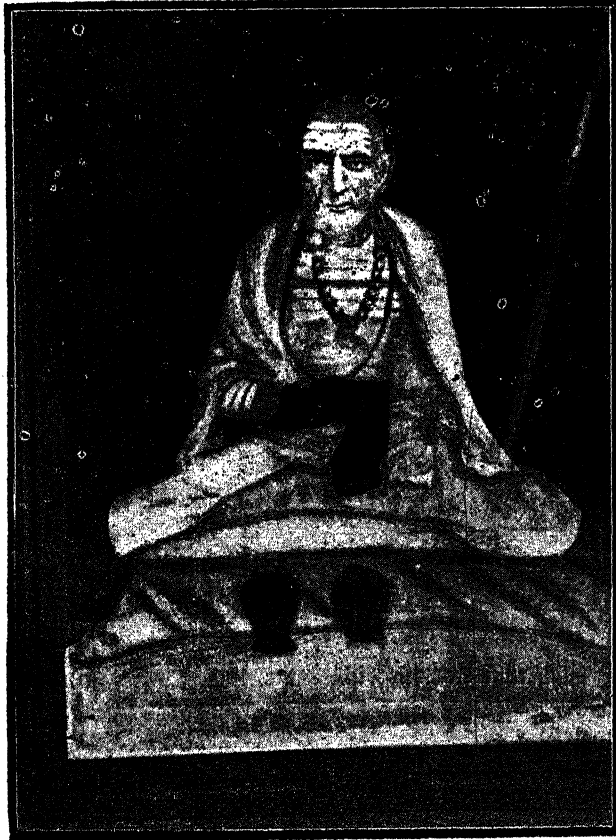
स्थापन सं० १६८०

MEHTA MUKUND RAMJI,

He was a great devotee of Sanatan Dharma.

प० प० अच्युतस्वामी (हजारीलालजी)

श्रीमान् हजारिलालो महता सुकृतेन वर्तयन्ननिशम् ।
संन्यस्तोऽन्ते यस्या-ग्निहोत्रसेवाऽधुनाऽपि चलति कुले ॥

जन्म सं० १९१५] [परलोक सं० १९७६

स्थापन सं० १९८०

MEHTA HAJARILALJI.

He was a great votary of Vedic Dharma. The Religious fire kindled by him is continuing even to-day in his house.

श्री० मे० पं० किशोरीलालजी

निजपूर्वजसत्कर्मस्वविरतमनुबद्धपावनश्रद्धः ।
श्रीमान् किशोरिलालो महता त्यागेन परमाप ॥

स्थापन सं० १९८८

MEHTA KISHORILALJI.

He made handsome donations to the instituition, which have ensured the stability of this Vidyalaya.

श्रीमदाद्यशङ्कराचार्याः ।

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताभूत् ।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम् ॥

स्थापन सं० १६६१
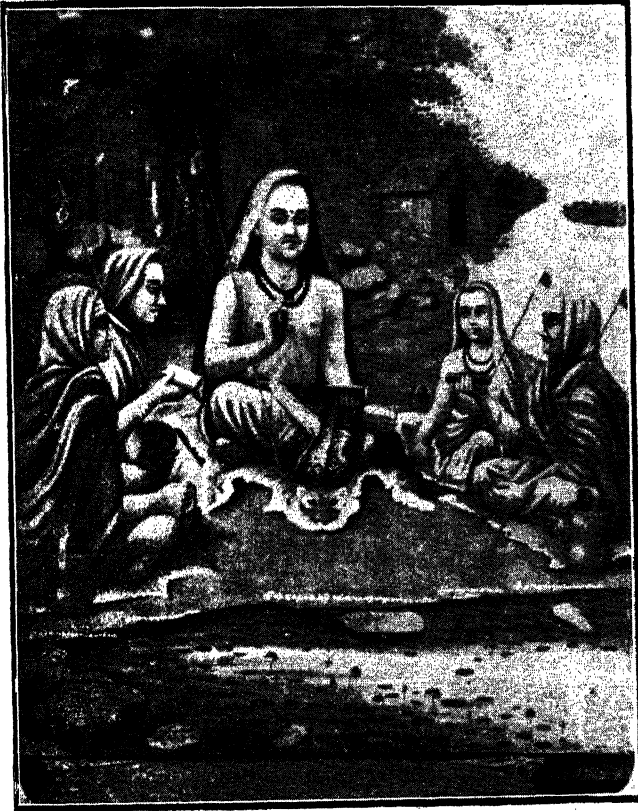
SHREE ADYA SHANKERACHARYA.

He was the great leader of Sanatan Vaidic Dharma who established the orthodox Sanatan Dharma after defeating and chasing out of India the Budhist religion.

श्री पं० भिकूदीक्षित लेले।

कृष्णायजुषि वेदमूर्तिः लेलेश्रीभिकुदीक्षितो विद्वान्।
सोमान्तानुष्ठाता यच्छिष्याः सर्वतः श्रेष्ठाः ॥

स्थापन सं० १६८०

Pt. BHIKKU DIXIT Lele.
He was a well known scholar of Yajurved.

श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधिपति-परमशिवावतारजगद्गुरु
श्री १००८ चन्द्रशेखरेन्द्रसरस्वतीपूज्यपादाः।

श्रीकाञ्चिकामकोटि श्रीपीठाधिष्ठिता जगद्गुरवः।
श्रीचन्द्रशेखरेन्द्रसरस्वती संयमीन्द्रयतिवर्याः ॥

SHREE KANCHI SHANKERACHARYAJI.

श्री० वे० विनायकभट्ट डोङ्गरे।

श्रीतत्सद्गुरुशिष्यो वैदिकवर्यो विनायको भट्टः।
शिष्येष्वपत्यदृष्टिर्यच्छिष्यपरम्परा काश्याम् ॥

स्थापन सं० १६६२

Pt. VINAYAK BHATT DONGRE.

He was a learned Vaidic who taught Veda to many scholars in Benares.

श्री० पं० राजारामशास्त्री

नव्यन्यायपरिष्कृति-रीत्या शब्दानुशासनेऽनुपमः।
श्रीबालशास्त्रिपूज्यः श्रीराजारामशास्त्रिवरः ॥

जन्म सं० १८३३]   स्थापन सं० १९८०   [परलोक सं० १९१७

Pt. RAJARAM SHASTRI.

He was famous for his success in completing the method of learning Sanskrit according to the rules of Navya Nyaya.

श्री० पं० बालसरस्वती

बाल्येऽपि बालशास्त्री स्वाप्तोर्यामर्त्विगखिलविच्छास्त्री ।
नृपसेव्य—सोमयाजी बालसरस्वत्ययं विदितः ॥

स्थापन सं० १९८०
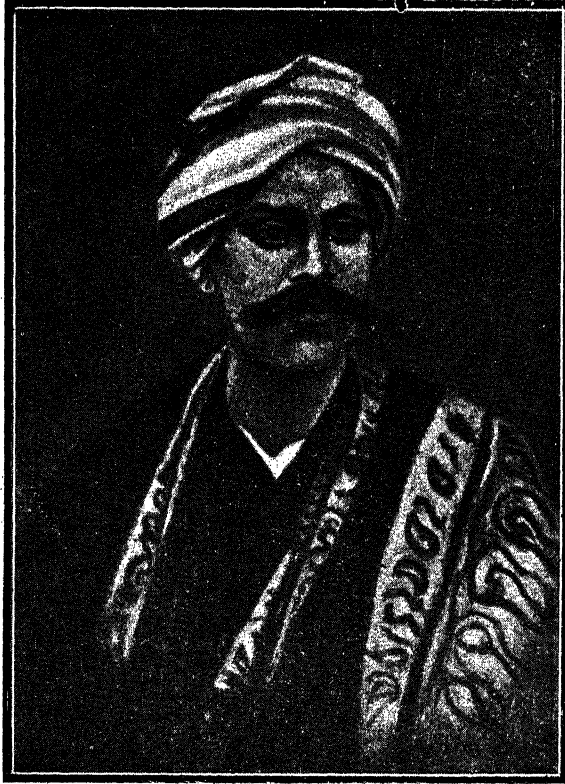
Pt. BALSARSWATI.

He was known as Bal Sarswati because he exhibited precious proficiency in Sanskrit learning in his very child-hood Pt. Gangadhar Shastri and Pt. shiva kumar Shastri were his desciples.

म० म० पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि

सम्पूर्णन्यायाम्बुधिमवगाह्याऽखण्डलायिते कृतिषु ।
कैलाशचन्द्रगुरुवरशिरोमणिपदे प्रपन्नाः स्मः ॥

जन्म सं० १८८७] [परलोकसं० १९६५

स्थापन सं० १९५०

M. M. Pt. KAILASH CHANDRA SHIROMANI

He was the great Scholar of Nyaya. M. M. Pt. Lakshman Shastri Dravid and M. M. Pt Bama Charan Bhattacharya were his many desciples.

श्री म॰ म॰ पं॰ केशव शास्त्री मराठे

श्रीबालशास्त्रिशिष्येण विद्वत्केशवशास्त्रिणा ।
ब्रह्मविद्याभ्यासभक्त्या यापितं चरमं वयः ॥

स्थापन सं॰ १९८३

M. M. Pt. Shree KESHAVA SHASTRI MARATHE.

He was a noted student of the great Pt. Bal Shastri and in his later developed a keen interest devotion for the study of Vedant till his death.

श्री० पं० रामसुब्रह्मण्य शास्त्री

गङ्गासेत्वङ्घ्रिचरत्यक्तस्वोऽयाचितव्रतो हरिधी ।
रामःसुब्रह्मण्योघनपाठीवन्द्यचरणो नः ॥

जन्म सं० १८८४] [परलोक सं० १९७६

स्थापन सं० १९८०
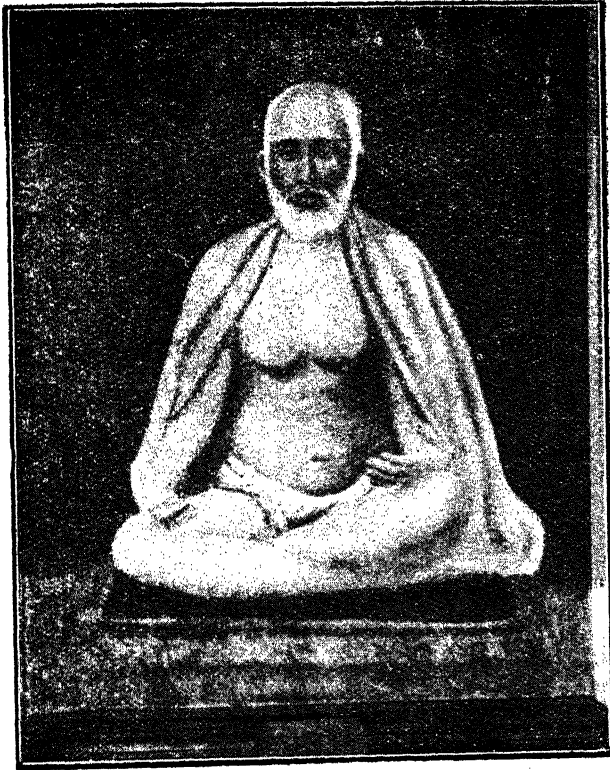
Pt. RAMSUBRAMNUYA SHASTRI GHANPATHI.

He was a great scholar of Krishnayajurveda, a great ascetic and devotee of the Almighty.

श्री० पं० जगन्नाथपाठक सप्तर्षि

श्रौतस्यपारदृश्वा सप्तर्षिरभूज्जगन्नाथः ।
यच्छिष्याः कातीयाः प्रायः सर्वेऽद्य कर्मकाण्डविदः ॥

जन्म सं० १८७२] [परलोक सं० १९४८

स्थापन सं० १९८०

Pt. JAGANANTH PATHAK SAPTARSHI.

He was a great pandit of Karmkanda.

श्री० पं० सीताराम शास्त्री नैयायिक

श्रीमान् सीताराम शास्त्री नैयायिक शिरोमणिः ।
प्रतिभायस्य राखालदासप्रभृति शंसिता ॥

[परलोक सं० १९६४

स्थापन संवत् १९८०

SHREE SITARAM SHASTRI.

He was famous Naiyayik and his wit was brialiant and unrivalled.

श्री० पं० विनायक शास्त्री वेताल

श्रीवेतालविनायक-शास्त्री श्रीबापुदेवशिष्यवरः।
व्याकरणधर्मशास्त्र-ज्योतिःष्वन्यादृशो विद्वान्॥

स्थापन सं० १९८३
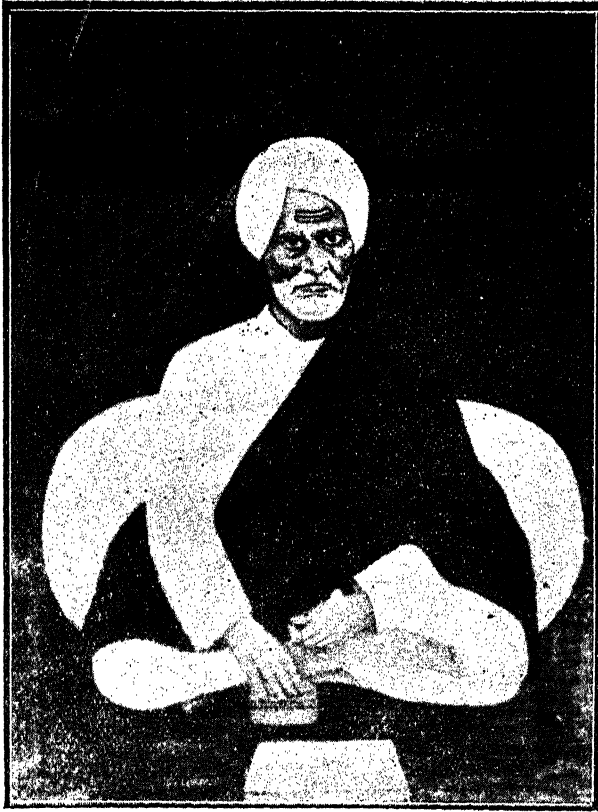
Pt. VINAYAK SHASTRI BETAL.

He was a good desciple of the Great Bapudeva Shastri and was well versed in Vyakaran, Dharma Shastra and Jyotish (Astronomy). He has written commentaries on many old astrological works.

श्री० पं० काकारामशास्त्री

श्रीकाकारामबुधः समसमयबुधेषु निरुपमो विबुधः ।
टीकामात्मपुराणे योऽकृत लोकोपकाराय ॥

जन्म सं० १८५३] [परलोक सं० १९३३
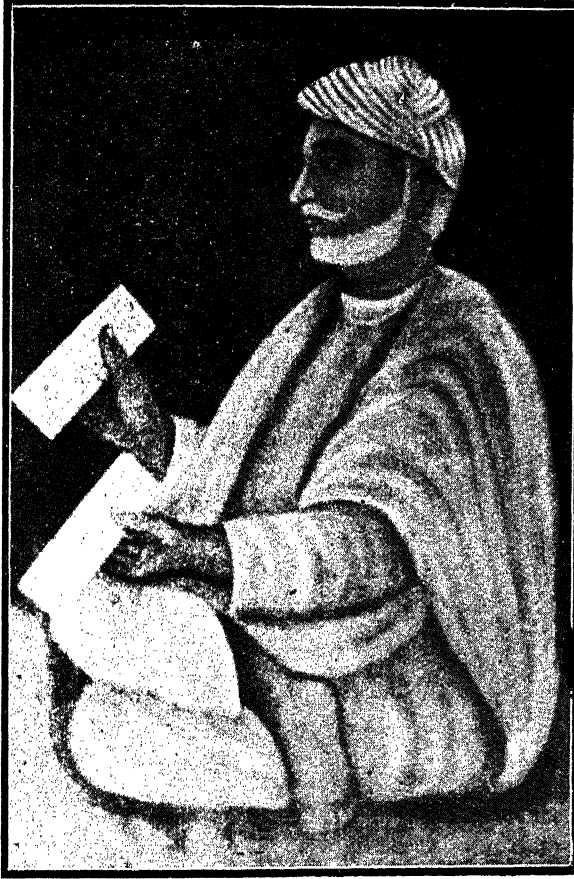
स्थापन सं० १९८०

Pt KAKARAMJI SHASTRI.

He was the greatest Pandit of his time. His commentary on Atma Purana is much appreciated.

म० म० पं० भागवताचार्य

श्रीमान् भागवताचार्यो दर्शनाम्भोधिपारगः ।
लेखनी यस्य संसिद्धा जल्पितं सिंहगर्जितम् ॥

जन्म सं० १९१६] [परलोक सं० १९६८

स्थापन सं० १९८०

M. M. Pt. BHAGWATACHARYA.

He was a great writer on Darshan Shastra.

श्री० पं० सूर्यनाथजी त्रिपाठी

नागरसामगतिलक-स्त्रिपाठिवर्यः स सूर्यनाथबुधः ।
यस्मिन्गायति सामनि चित्रेऽर्पित इव जनो दृष्टः ॥

जन्म सं० १८६०] [परलोक सं० १६६२

स्थापन सं० १९८०
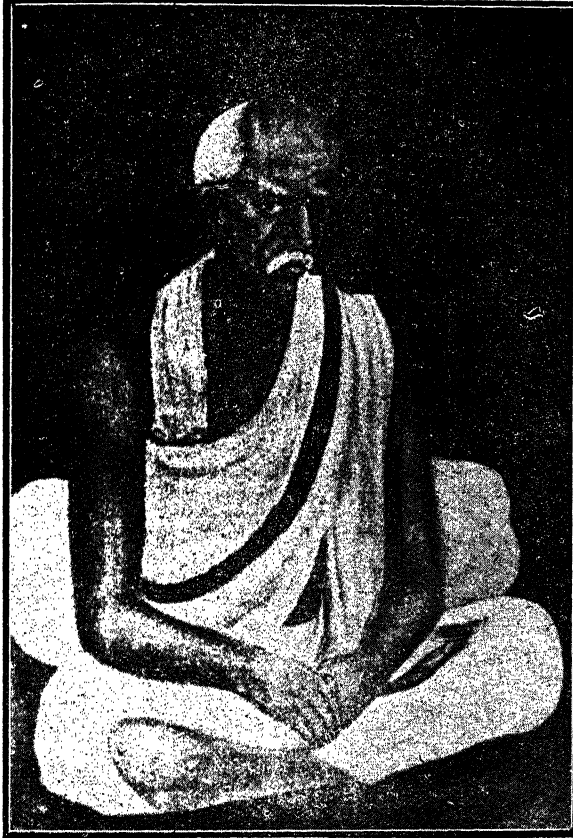
Pt. SURYANATHJI TRIPATHI.

He was so well versed in Samveda that the audience became spell-bound when he chanted the hymns of Samveda.

श्री० पं० गणेशरामजी सामवेदी

सामाध्यापननिपुणः श्रीसामवेदिगणेशरामगुरुः ।
निष्कपटं यद्धृदयं गुरुरित्येवाह यं सर्वः ॥

जन्म सम्वत् १९०४ | परलोक संवत् १९८८

स्थापन संवत् १९८०

SHREE GANESHRAMJI SAMVEDI.

He was a famous Scholar of Samveda.

म० म० पं० राखालदास न्यायरत्न

राखालदासविद्वन्महाशयोन्यायरत्नमचिरत्नम् ।
अङ्गुलिगण्येष्वेकं सर्गनिसर्गे गुणाकरोद्रेकः ॥

जन्म सं० १६८६] [परलोक सं० १९७७

स्थापन सं० १६८०
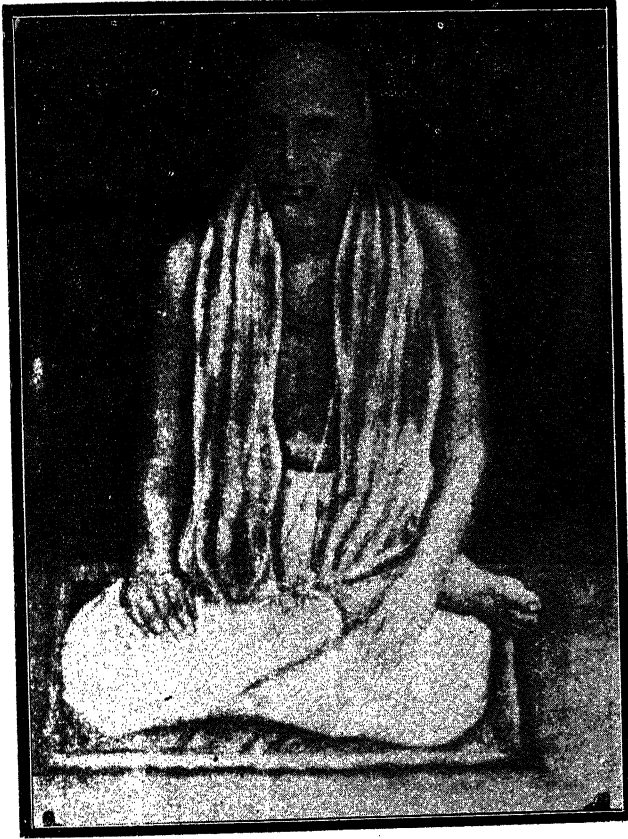
M. M. Pt. RAKHALDAS NAYARATNA.

He was the greatest Scholar of Nyaya of his time.

श्री पं० रामनाथजी ज्यौतिषी

श्रीरामनाथभट्टस्त्रिस्कन्धऽयौतिषे विशेषज्ञः ।
यस्य खगोलज्ञानं निरुपमितमशीलितं चान्यैः ॥

जन्म संवत् १७२७] [परलोक संवत् १९२५

स्थापन सं० १९८७
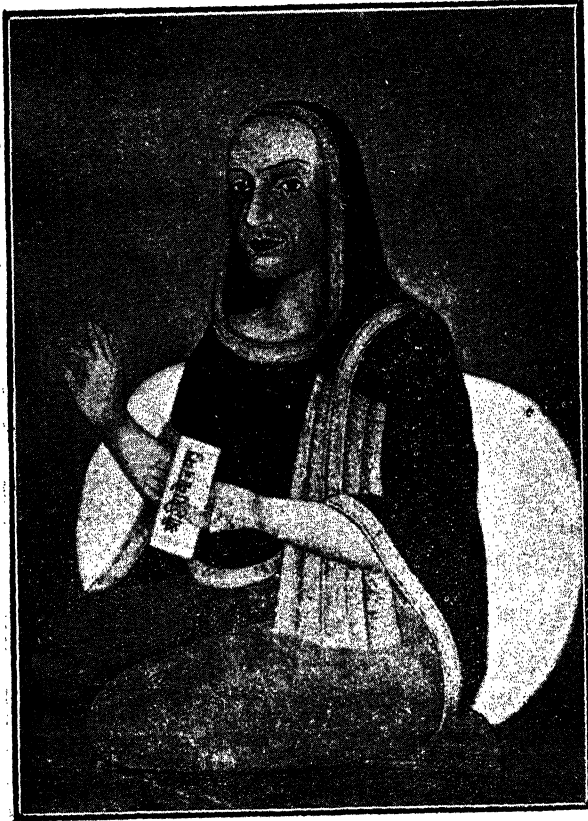
Pt. RAMNATHJI JOTISHI.

He was the great astronomer and astrologer, whose knowledge of the planets is still unrivalled.

म० म० पं० शिवकुमार शास्त्री

विश्रुतनामा पण्डितकुलतिलकः शिवकुमारशास्त्रिवरः।
यद्दर्शनादमन्वत विश्वेश्वरदर्शनं लोकाः ॥

जन्म सं० १९०४] [परलोक सं० १९७५

स्थापन सं० १६८०
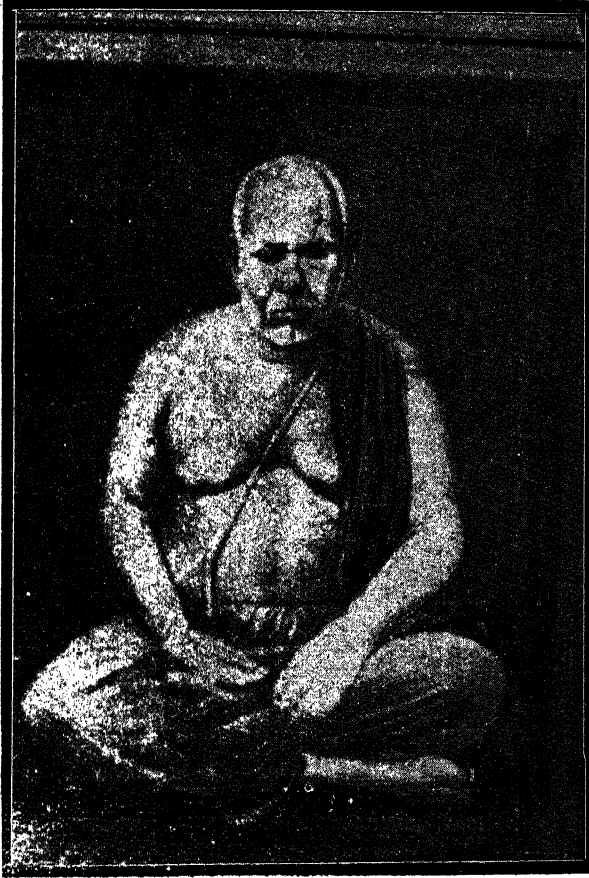
M. M. Pt. SHIVA KUMAR SHASTRI,

He was a renowned and unrivalled scholar of his time.

श्री म० म० पं० तात्याशास्त्री

श्रीमांस्तात्याशास्त्री यः परिभाषेन्दुशेखरे भूत्या ।
मन्दानुजग्राहा—मन्दाद्भुत-प्रतिभया स संजयति ॥

स्थापन सं० १९८०

M. M. Pt. TATYA SHASTRI.

He has written a learned commentary named "Bhuti", on the great Vyakaran work Paribhasendu-Shekhar.

म० म० पं० गङ्गाधरशास्त्री मानवल्ली सी० आई० ई०

श्रीगङ्गाधरशास्त्री कविरेकः सकलगुरुबुधेष्वभवत् ।
कृतयो यस्याद्यापि प्रमोदयन्त्येव हृदयानि ॥

जन्म सं० १६१०]

स्थापन सं० १६८०

[परलोक सं० १९७०

M. M. Pt. GANGADHAR SHASTRI C. I. E.

He was an eminent scholar and poet, His works delight the learned even to-day.

श्री म० म० पं० दामोदर शास्त्री भारद्वाज

आसीद्य उदाहरणं व्याकरणेऽलङ्कृतावलङ्कारः।
सोऽयं प्रसिद्धकीर्तिः पण्डितदामोदरः शास्त्री ॥

जन्म सं० १६०४] [परलोक सं० १६६६

स्थापन सं० १९८०
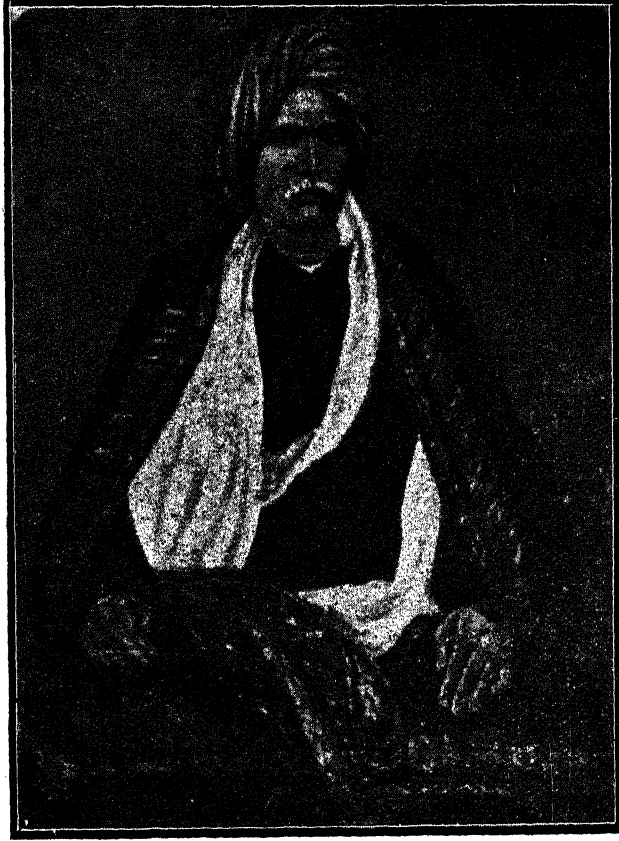
M. M. Pt. DAMODAR SHASTRI.

He was famous for his deep knowledge and studies in Sanskrit Grammer.

श्री म० म० पं० बापूदेवशास्त्री

श्रीमान् बापूदेवशास्त्री दैवज्ञकुलशेखरः।
विनयातिशयो यस्य श्लाघ्योऽङ्गीकृतपालने ॥

जन्म सं० १७४३] [परलोक सं० १८२२

स्थापन सं० १६८०

M. M. Pt. BAPUDEV SHASTRI. C. I. E.

He was the world famous Mathematician and Astrologer. His desciples command respect even to—day. He has numerous works on Astronomey to his credit. The Panchang (Almanac) acc rding to Drishya Ganana is going on from year to year up to this day.

म० म० पं० सुधाकरजी द्विवेदी

श्रीबापूदेवशिष्याणां गणितप्रतिभाद्भुतः ।
सुधाकरद्विवेदीति कीर्त्याविजयतेतराम् ॥

जन्म सं० १६०५] [परलोक सं० १९६७

स्थापन सं० १६८०

M. M. Pt. SUDHAKER DWIVEDI.

He was the brilliant mathmetician whose mothmetical brain was regarded as one of the wonders of the world of his time.

म० म० पं० स्वामी राममिश्र शास्त्री

श्रीमान् स्वामी राममिश्र शास्त्री विजयतेतराम् ।
अन्यदेवास्यपाण्डित्य मन्यद्धै दग्ध्यमीद्यते ॥

जन्म सं० १९०२] [परलोक सं० १९६३

स्थापन सं० १९८०

M. M. Pt. RAMMISHRA SHASTRI,

He was a great expositor of Ramanuj Vedant. His learning was deep and its exposition brilliant.

श्री पं० गोपालजी नागर

गोपाल-नागरोऽयं विद्यालयकार्यदर्शनाध्यक्षः ।
चातुर्मास्याध्वर्युः सुतरां यो लोकसङ्ग्रहे निपुणः ॥

स्थापन सं० १९८६

PANDIT GOPALJI NAGAR.

He was connected with the family of the founders of the Instituition from his very infancy and worked as supervising manager of the Institution. The Institution made creditable progress under his fostering care. He was proficient in conducting religious functions as well.

भारताचार्य पं० रमानाथव्यास

भारतवक्ता व्यासोऽपरो रमानाथभारताचार्यः।
सुश्लिष्टा वाग्धारा यस्य सुदीप्ता यथा विद्युत्॥

स्थापन सं० १९८१
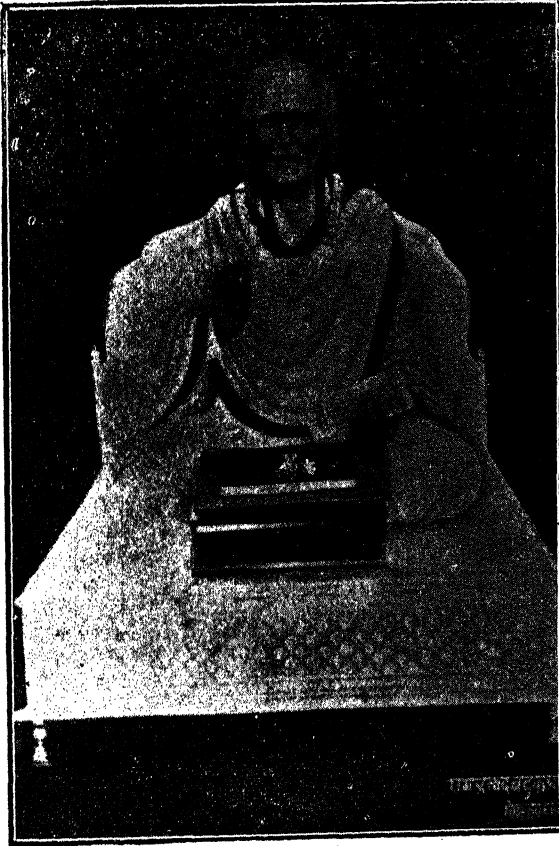
Pt. RAMANATH VYAS.

He was a great Mantra Shastri of his time He was the most famous recitor and expositor of the Great Epic Mahabharat. His crystal clear voice and deep exposition sent an electric thrill in the people who flocked to hear him in large numbers.

सर्वतन्त्रस्वतंत्र म० म० पं० रामसुब्रह्मण्य शास्त्री

मीमांसाद्वयपाथोधिमन्थने मन्दरोपमः ।
तन्त्रःस्वतन्त्र श्रीरामसुब्रह्मण्यबुधाग्रणीः ॥

स्थापन संवत् १९८१

MAHAMAHOPADHYA Pt. RAM SUBRAHMUNYA SHASTRI.
He was the master of Mimansa and Vedant Shastra.

श्री० पं० नित्यानन्दजी मीमांसक

श्रीमान्नित्यानन्दमीमांसको विद्वच्छिरोमणिः ।
त्रिकालस्नानादिधर्मा सर्वतन्त्रस्वतन्त्रभूः ॥

स्थापन संवत् १६८१

Pt. NITYANAND MIMANSAK.

He was a well known Scholar of Mimsa Darsan and was a strictly religious man.

श्री० पं० पुरुषोत्तम भट्टजी

श्रीपुरुषोत्तमभट्टो व्रजभाषायां सुकीर्त्यमधुरकथः ।
सुश्लिष्टा वाग्धारा यस्य सुमधुरा यथा गङ्गा ॥

स्थापन सं० १६८१
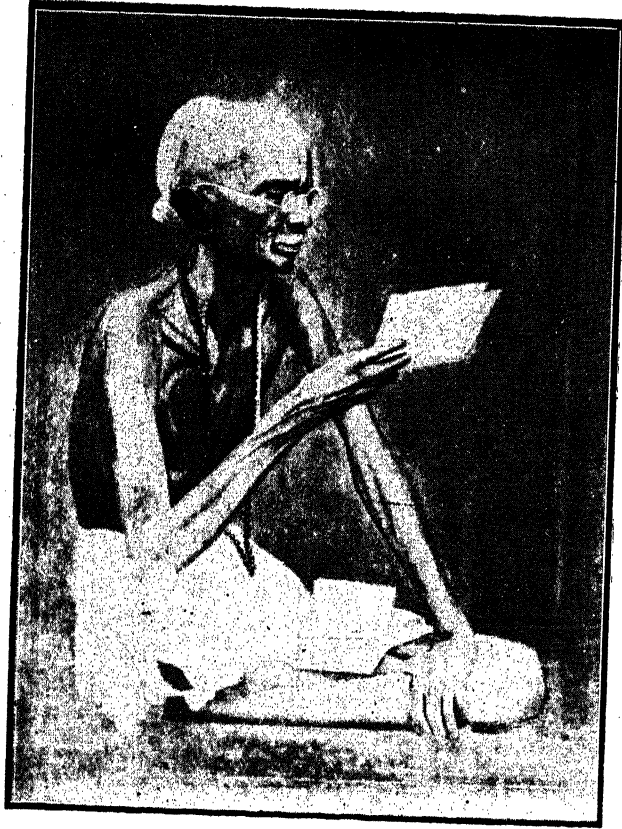
SHREE PURUSHOTTAM BHATT.

He was a well known Pandit of Vallabha Sampradaya and deep Scholar of Bhagwat Puran.

श्री १०८ स्वामी विशुद्धानंद सरस्वती

विद्वान्यतिर्विशुद्धानन्दसरस्वत्यमन्दकीर्तिभरः ।
यस्मिन्विदुषां गुरुमतिरद्भुतमाहात्म्यमेतस्य ॥

स्थापन सं० १९८२
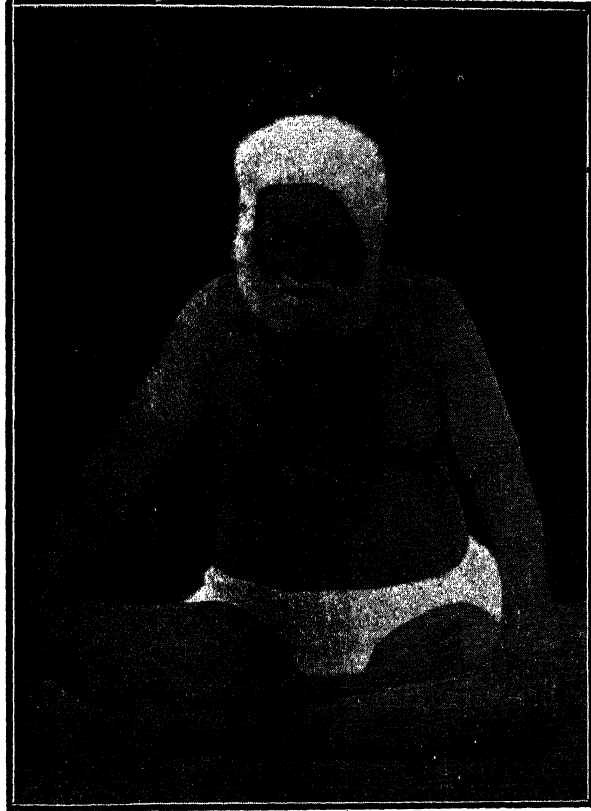
SHRI 108 SWAMI VISHUDDHANAND SARASWATI.

He was a great Sanyasi famous for his Vedantic learning. He commanded awful reverence from high and low, official and unofficial alike. He was also master of Mimansa Darsan.

भारतमार्तण्ड श्री० पं० गट्टूलाल शास्त्री

भारतमार्तण्डश्रीगट्टूलालः कवीश्वरो जयतिः।
कवितायां शास्त्रार्थे शतावधाने च बुधशस्तः॥

स्थापन संवत् १९८२

Pt. GUTTU LAL SHASTRI,

He was a Poet Shastrarthi and Satavadhani of Nathdwar (Marwar).

म० म० पं० रामशास्त्री मानवल्ली

मानवल्लीरामशास्त्री शास्त्रिगङ्गाधरानुजः ।
सुकविश्चाभिगम्यश्च प्राच्यपाश्चात्यमानितः ॥

[परलोक सं० १९८३

स्थापन सं० १९८४

M. M. Pt. RAM SHASTRI MANWALLI.

He was a good poet respected by all educated persons whether in Sanskrit or in English.

श्री म० म० पं० जयदेवमिश्र

जयदेवमिश्रवर्यः शिष्यः श्रीशिवकुमारशास्त्रिगुरोः।
सम्राण्मान्यो नानाग्रन्थैरुपकारको जयति ॥

जन्म सं० १९११] [परलोक सं० १९८३

स्थापन सं० १९८४
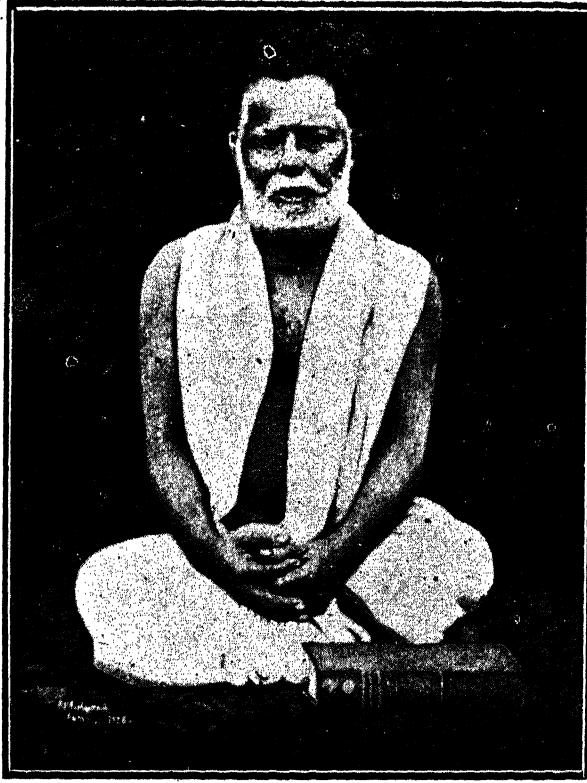
Shree Jayadeva Mishra, the writer of many books in Sanskrit.

M. M. Pt. JAYADEVA MISHRA.

He was a great Scholar of Vyakaran (Sanskrit grammar). He has written many works and commentaries on Vyakaran and Nyaya.

ज्योतिषशास्त्रमार्तण्ड पं० श्रीचन्द्रदेवजी पण्ड्या

श्रीचन्द्रदेव विद्वान् विभातिदैवज्ञसमितिमध्यगतः ।
गणिते प्रथमं गण्यो विद्यानन्दे निमग्नधीरनिशम् ॥

स्थापन सं० १९८५

Pt CANDERDEOJI.
He was a good astrologer and proficient Mathematician.

(सूचना—मार्गशीर्ष कृष्ण १२ चन्द्रे सं० १९६१ में मुम्बई में पञ्चाङ्गशोधन सभा हुई थी। इसमें म० म० सी० आय० ई० पं० बापूदेव शास्त्री जी के शिष्यप्रशिष्यों का फोटो यह है, उसमें-बीच में (१) श्री पं० बापूआचार्य (ब्रह्मावर्त) (२) श्री पं० विनायक शास्त्री खानापूरकर (३) श्री पं० गोकुलचन्द्र भावन (जयपुर) (४) म० म० पं० श्रीदुर्गाप्रसाद द्विवेदी (जयपुर) (५) ज्यौतिर्विद विशारद पं० श्रीमहादेव भट घाटे (काशी) (६) पं० श्रीगणपतिदेव शास्त्री (काशी) (७) ज्यौतिष शास्त्र मार्तण्ड पं० चन्द्रदेव जी पण्ड्या (काशी) (८) स्वधर्मधुरंधर दैवज्ञ वाचस्पति पं० श्री विनायक शास्त्री वेताल (काशी) (९) श्री पं० अमृतराम नारायण शास्त्री (बड़ोदे) (१०) श्री पं० श्रीकृष्ण मोहन जी कार्तामर्त क—बैठे हुए (५) गिरिजा प्रसाद द्विवेदी (जयपुर) ।

श्री० पं० जनार्दन मिश्र

साङ्गे यजुष्यधीती श्रौतस्मार्तप्रकाण्डवैदुष्यः ।
अनिशं विश्वेश्वरधीर्मिश्रः श्रीमान् जनार्दनो जयति ॥

जन्म सं० १९०४] [परलोक सं० १९८५

स्थापन सं० १९८५

Pt. JANARDAN MISHRA.

He was a well known Karmkandi and a devotee of shree Vishwanathji.

श्री० वे० केशवभट्टजी काले

आशीर्वादेन गुरोः शुक्लयजुर्वेदिनां जगन्मान्यः ।
अध्यापितबहुशिष्यो भट्ट श्रीकेशवो महाविद्वान् ॥

स्थापन सं० १६८६

Pt. KESHAV BHATTJI KALE.

He was well known for his deep study of Shukla-Yajurved.

श्री पं० गौरीनाथ दीक्षित

श्रौतस्मार्तातिपटुः सन्देहे श्रौतिनां समुद्धृतिकृत् ।
श्रीमान् गौरीनाथो दीक्षितवर्यो जयत्यनिशम् ॥

जन्म संवत् १९१६] [परलोक संवत् १९८४

चित्रस्थापन सं० १९८६
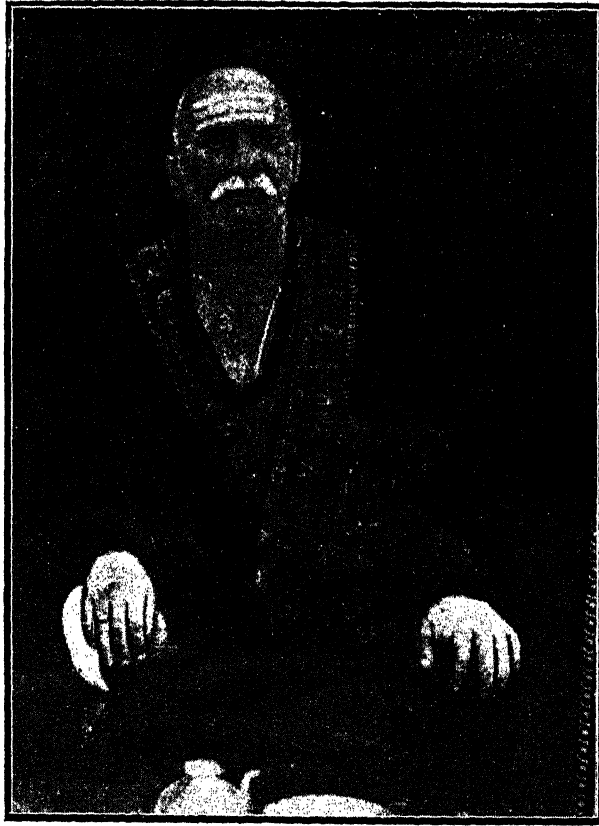
Pandit Gouri Nath Deekshit.

He was a pre-eminent Scholar of Karmakand (that part of Vedas and Smritis which deals with the rituals especially connected with Yagyas)

म० म० पं० वामाचरणभट्टाचार्य ।

प्रातः संस्मरणीये श्रीवामाचरणगुरुपदाम्भोजे ।
अनिशं शरणीकुर्मः स्मरणात्स्फूर्तिप्रदे सद्यः ॥

स्थापन सं० १६८६

जन्म सं० १६३६] [परलोक सं० १६८८
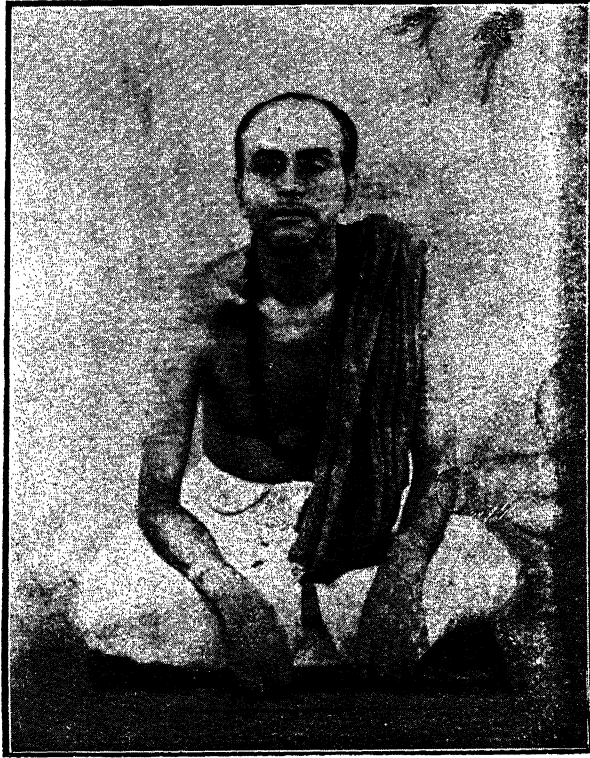
M. M. Pt. VAMACHARAN BHATTACHARYA.

He was a renowned scholar of Nyaya Philosophy and other allied subjects.

म० म० पं० प्रभुदत्त शास्त्री अग्निहोत्री।

व्याकरणे साङ्ख्यादौ वैदिकविद्यासु कर्मसु च निपुणः।
अर्थज्ञ आहिताग्निः श्रीमान् प्रभुदत्तशास्त्रिवरः ॥

स्थापन सं० १९८७

जन्म सं० १९२१] [परलोक सं० १९८६
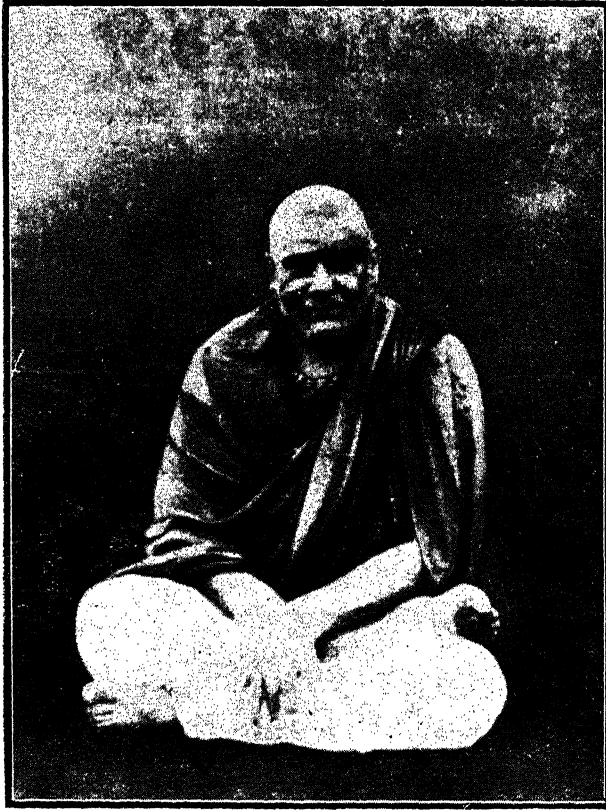
M. M. Pt. PRABHUDUTT SHASTRI.

He was a famous Vaidic of his time and was well known for his learning in other Shastras as well. He maintained the sacrificial fire in his home.

म० म० पं० नित्यानन्दजी पर्वतीय।

सुखदु:खे समे कृत्वा प्राप्तंप्राप्तं समश्नुवन्।
अद्भुतादर्शचरितनित्यानन्दो व्यराजत ॥

स्थापन सं० १६८६
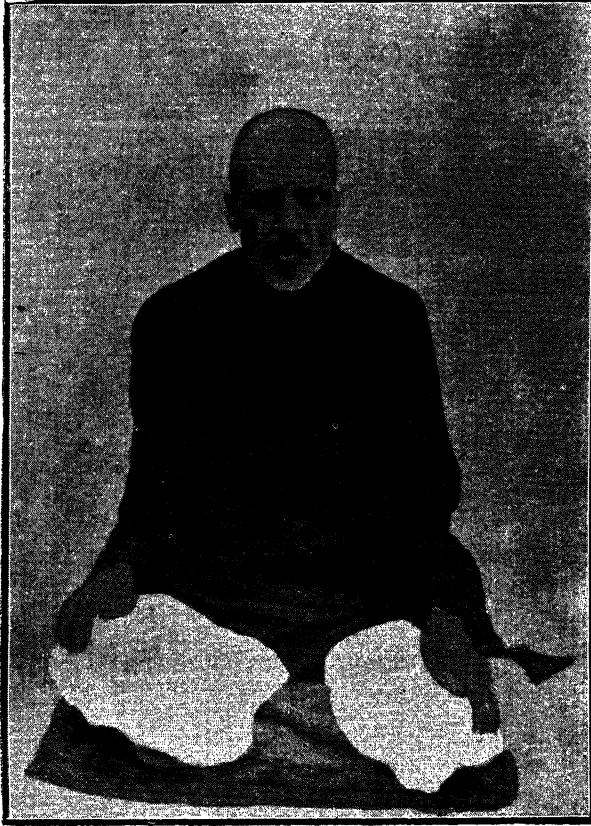
M. M. Pt. NITYANANDJI PARVATIYA.

He was a well-known Pandit and was much respected for his ideal conduct

श्री पं० विद्यानाथजी व्यास।

श्रीमान् विद्यानाथव्यासः श्रीरामचन्द्रदृढ़भक्तिः।
शापो यस्य मुहूर्तात् श्रीरघुपतिनिन्दके फलितः॥

स्थापन सं० १९६०

जन्म सं० १९१२] [परलोक सं० १९८८
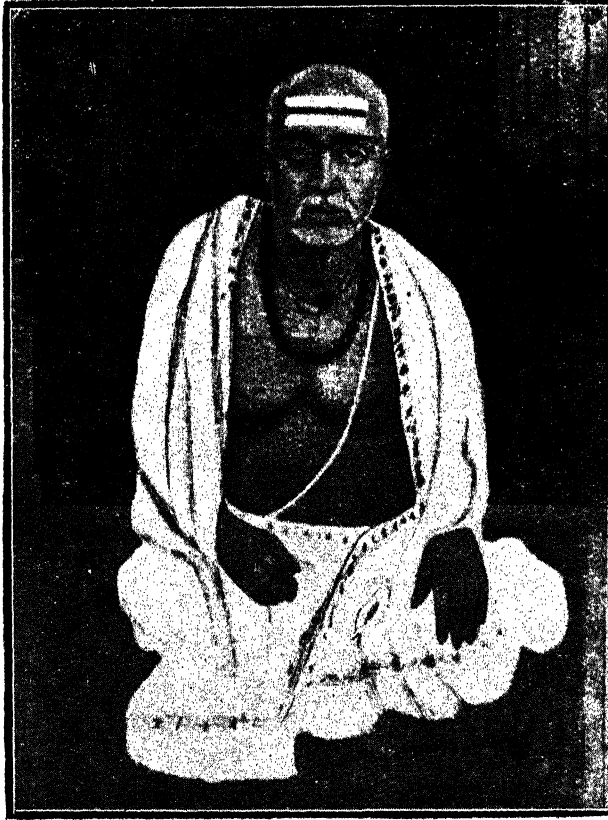
Pt. VIDYANATHJI VYAS.

He was a well known reciter of Puranas and a staunch devotee of Sri Ramchandraji. His curse upon person who spoke ill of Sri Ramji became instantly true.

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पं० बच्चाझा

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीधर्मदत्त (बच्चाझा) बुधाग्रणीः ।
यत्कोडपत्रिका न्याये भान्ति सर्वबुधादृताः ॥

स्थापन सं० १९९२
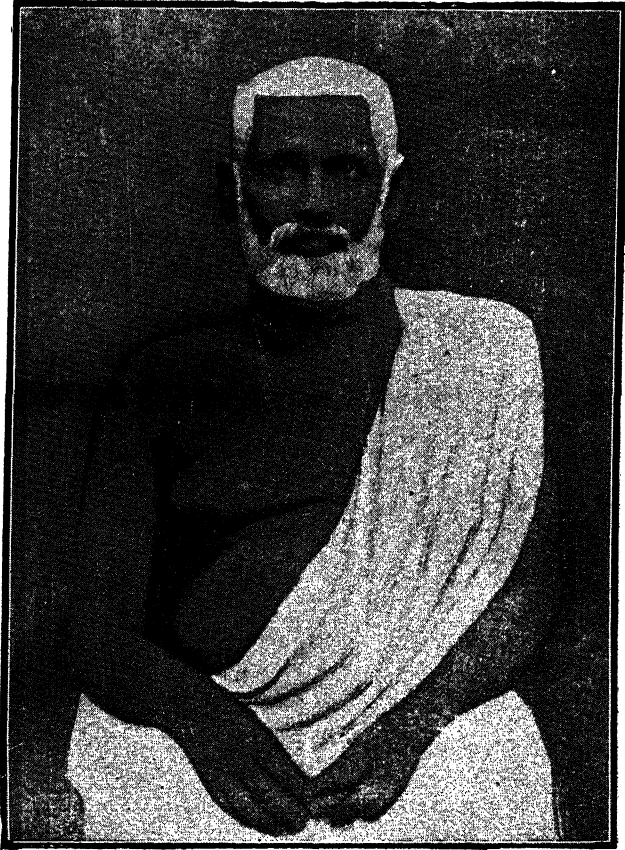
Pt. DHARMA DUTT JHA, ALIAS BACHCHAJHA.

He was a great Scholar of Nyaya philosophy and commanded a wide reputation all over India in his time.

प० प० जयदेवाश्रम स्वामी

आथर्वणशाखीयस्तद्विधिताशान्तिकादिषून्नतिकृत् ।
श्रीजयदेवस्वामी स्वं कृत्वा धर्मदायमाश्रमभाक् ॥

जन्म सं० १६१४ परलोक सं० १६६२

स्थापन सं० १६९३
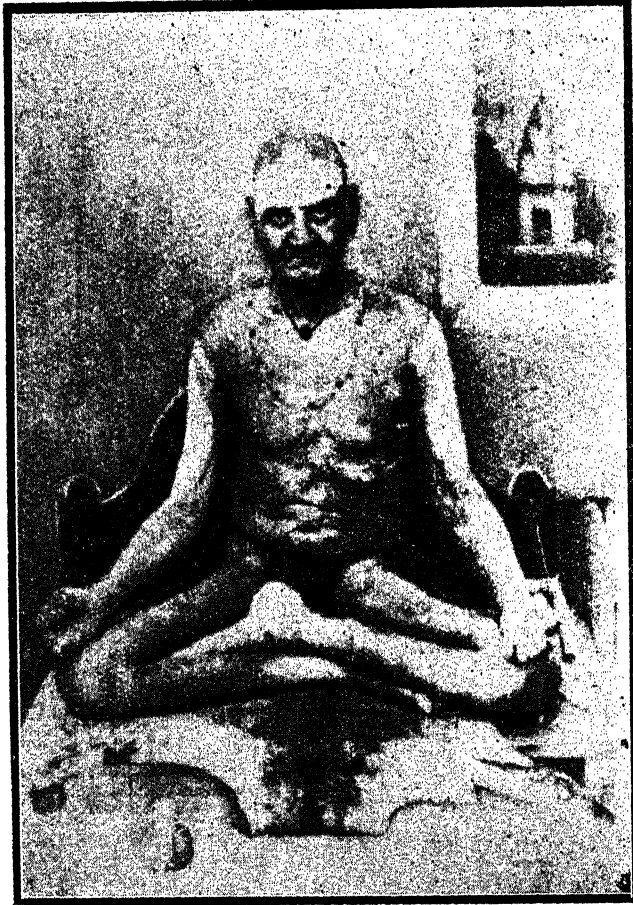
Pt. JAIDEVASHRMA SWAMI.

He was a learned Scholar of Atharva Ved

डाक्टर पं० बालकृष्ण कौल (रायबहादुर)

श्रीबालकृष्णकौलो महोदयो राजमान्यैः वैद्योऽभूत् ।
रायबहादुर पदभागपि तपसो वेषतश्च ऋषिः ॥

स्थापन संवत् १९९३ परलोक संवत् १९९२
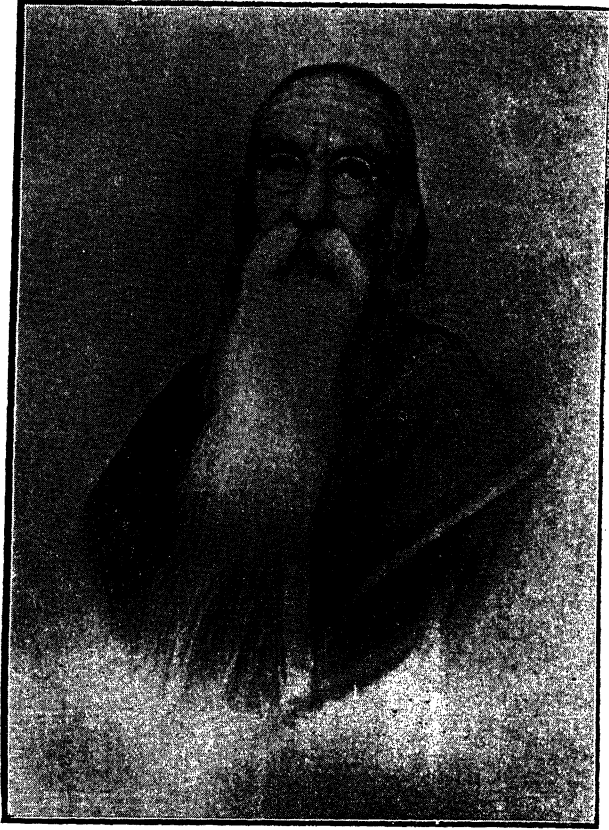
R. B. Dr. SHREE BALKRISHNA KAUL.

He was a well known State Physician who lead a pious and religious life.

प० प० श्रीहरिस्वामी (पं० रणवीरदत्त त्रिपाठी)

त्रैसन्ध्यकुण्डलब्धा-द्धरिप्रसादादवाप्तशुभजन्मा ।
सामगवैदिकतिलक—स्त्रिपाठिरणवीरदत्तबुधः ॥

जन्म सं० १९२७] [परलोक सं० १९९५
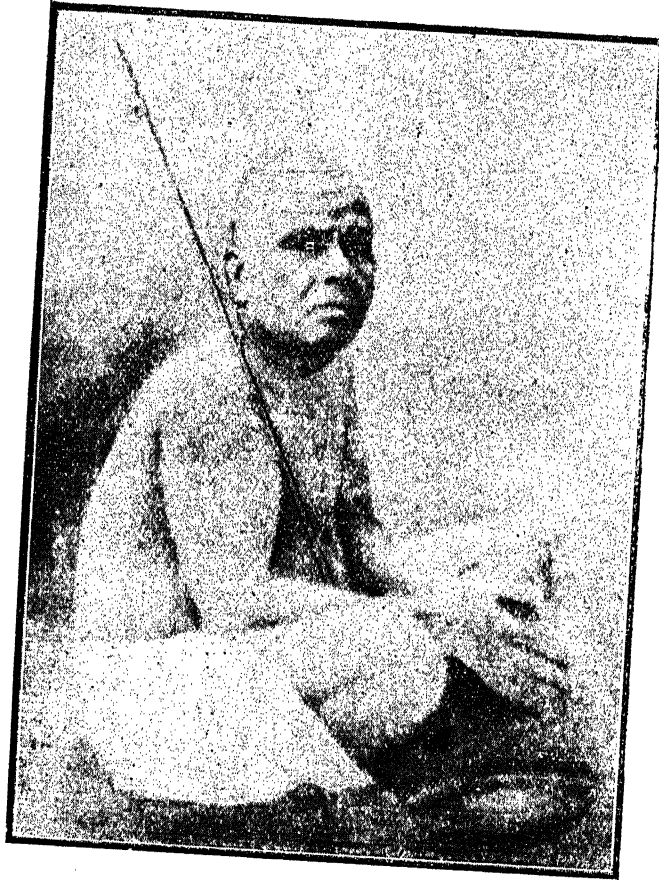
स्थापन सं० १९९५

Pt. RANVIR DUTT TRIPATHI.

He was a noteworthy Samvedi of his time.

म० म० पं० कामाख्यानाथ तर्कवागीश

कामाख्यानाथाख्या–विख्यातो बुधमणिर्नवद्वीपे ।
शिष्या यस्य सहस्रश इतस्ततः संविराजन्ते ॥

स्थापन सं० १६६४

M. M. Pt. KAMAKSHANATH TARKVAGISH.

He was the renowned Naiyayik of Navadvip, whose desciples may be found in all parts of India.

श्री० पं० वेङ्कट सुब्बाशास्त्री

वेङ्कटसुब्बाशास्त्री मीमांसाविश्रुतोमहाविद्वान् ।
शिष्या अनन्तकृष्णःशास्त्रीत्याद्याः श्रुता यस्य ॥

स्थापन संवत् १९९४ परलोक संवत् १६८५

Pt. VENKAT SUBBA SHASTRI,

He was a learned Mimansak one of whose desciples is M. M. Anant Krishna Shastri of Calcutta University.

श्रीयोगिराज पं० गोविन्दराव महाराज ।

सिद्धयतिवासुदेवानन्दसरस्वत्यमन्दशिष्येषु ।
गोविन्दरावगुरुवरपण्डितयोगीश्वरो जयति ॥

स्थापन सं० १९६६

जन्म सं० १९३७]

[परलोक सं० १९८६

Pt. GOVIND RAO.

He was a great Yogi.

श्री० वे० बालंभट्टजी गोडबोले।

योगीन्द्रमेरुशाखिवंश्यः श्रीबालभट्टवेदगुरुः ।
वेद इव मुष्टियुद्धे चासीद्यस्याद्वितीयता प्रथिता ॥

स्थापन सं० १९६५

जन्म सं० १९२२] [परलोक सं० १९८९
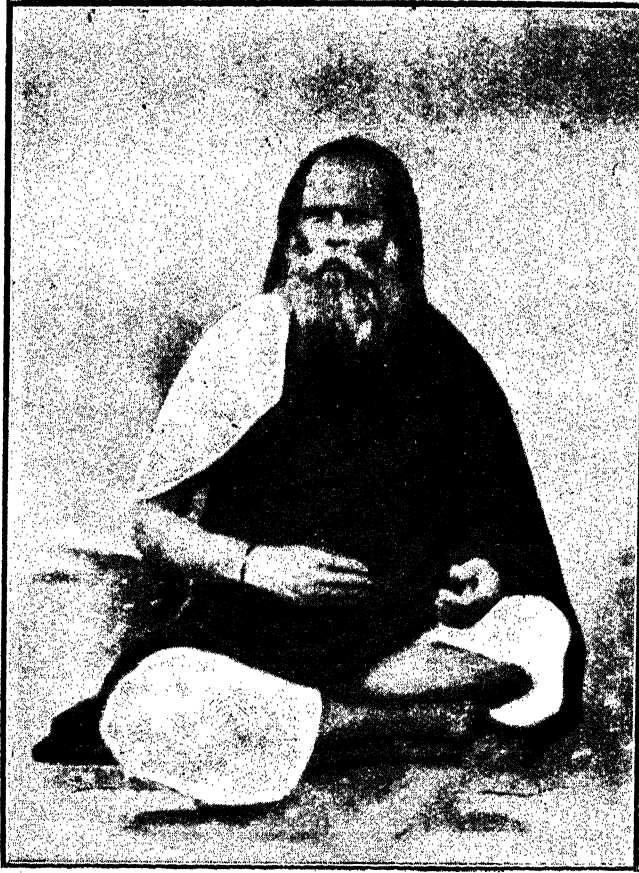
Pt. BALAM BHATT GODBOLE.

He was a Vaidic and Mukkifighter.

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पं० पञ्चाननतर्करत्न महाशयाः ।

श्रीतर्करत्नपञ्चानन "विद्वन्मान्य" सूरिरिह जयति ।
सदनं विद्योत्साहब्राह्मण्यानां स्वतन्त्रतायाश्च ॥

स्थापन सं० १६६७

M. M. Pt. PANCHANAN TARKARATNA.

He was a great philosopher and Dharma Shastri.

विद्वच्छिरोमणि पं० चण्डीप्रसादजी ।

शुक्लः श्रीमान् चण्डीप्रसादशास्त्री बुधेषु मान्यतमः ।
श्लाघ्या काश्यस्यासीद्विद्याधर्मप्रचारतत्परता ॥

स्थापन सं० १९६८

जन्म सं० १९२५] [परलोक सं० १९६८

Pt. CHANDI PRASAD SHUKLA.

He was a well known Pandit and took keen interest in the spread of orthodoxy.

श्री पं० जानकीलालजी।

महताकुले ममत्वादेवं विद्यालयेप्यतिप्रेम्णा।
अतिदक्षकार्यदर्शी स्मरणीयोजानकीलालः ॥

स्थापन सं० १९६७

जन्म सं० १९२९]　　　　[परलोक सं० १९९७
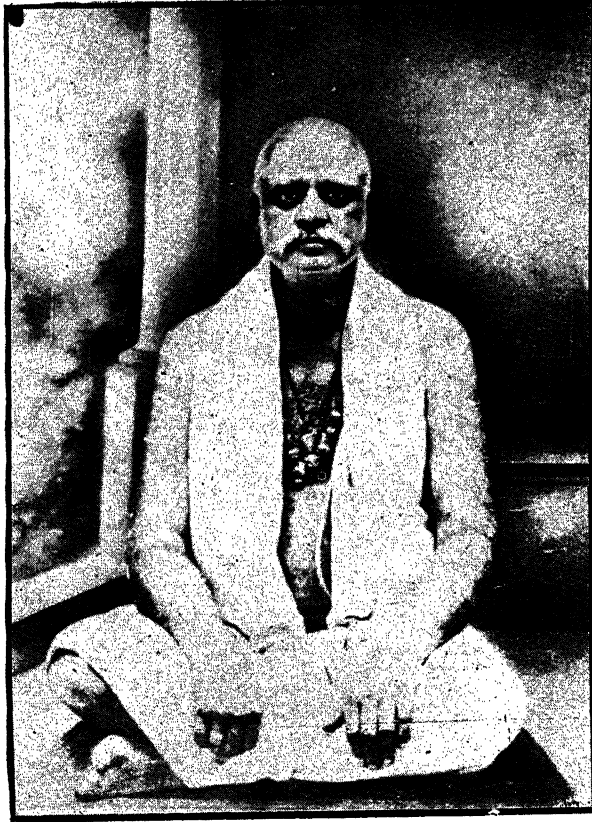
SHRI PANDIT JANKILALJI.

He was a devoted, loving and pleasing manager of the Vidyalaya.

श्री पं० नारायणशास्त्री केलकर।

वैदिकवद्धश्रद्धः पुराणलब्धप्रतिष्ठराजगुरुः ।
केलकरोपाह्वः श्रीपण्डितनारायणः शास्त्री ॥

स्थापन सं० १९९६

जन्म सं० १९१०] [परलोक सं० १९८९

Pt. NARAYAN SHASTRI KELKAR.

He was a good pauranik.

श्री० पं० मल्लादिरामकृष्णदीक्षित सोमयाजी

मल्लादिरामकृष्णो महाग्निचिद्दीक्षितो महाविद्वान्।
चयनान्तानुष्ठाता त्रिलिङ्गभूमण्डले मान्यः ॥

स्थापन सं० १६६८

Pt. MALLADI RAMKRISHNASHASTRI MAHAGNICHIT

He was a well known Vaidika and Pandit.

म० म० पं० वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर

श्रीवासुदेवशास्त्रीत्याख्योऽसौवेदशास्त्रनिष्णातः ।
यो वेदशास्त्रसभया विद्योद्धाराय बहुकृतवान् ॥

जन्म संवत् १८९१] [परलोक सं० १९४२

स्थापन सं० १९९९

M. M. Pt. VASUDEVASHASTRI ABHYANKER.

He was a well Known Scholar of Veda.

महावैय्याकरण पं० देवनारायण त्रिपाठी

प्रथितोत्यन्तदयालुः सदेवनारायणस्त्रिपाठीति ।
धर्मात्माचाथमहावैयाकरणोद्दढ़रतो नियमे ॥

जन्म सं० १६२३] [परलोक सं० १९६८

स्थापन सं० १६६६

Pt. DEVA NARAIN TRIPATHI.

He was a well known scholar of Sanskrit grammar.

वैद्यरत्न पं० त्र्यम्बकशास्त्री

श्रीमांस्त्र्यम्बकशास्त्री मुन्यायुर्वेदमूर्तिधृक् साक्षात् ।
तद्वैद्यरत्नपदमपि यस्मिन्नस्तीह मुख्यार्थम् ॥

जन्म सं० १९१८ [परलोक सं० १९९९

स्थापन सं० २०००

VAIDYARATNA Pt. TRYAMBAK SHASTRI.

He was the most famous Vaidya of his time and commanded an all India practice

श्री पं० सीताराम शास्त्री केलकर ।

यस्यादम्योत्साहो विद्याधर्मप्रचारकार्येषु ।
स श्रीसीतारामः शास्त्री साङ्ख्ये च योग आचार्यः ॥

स्थापन सं० २०००
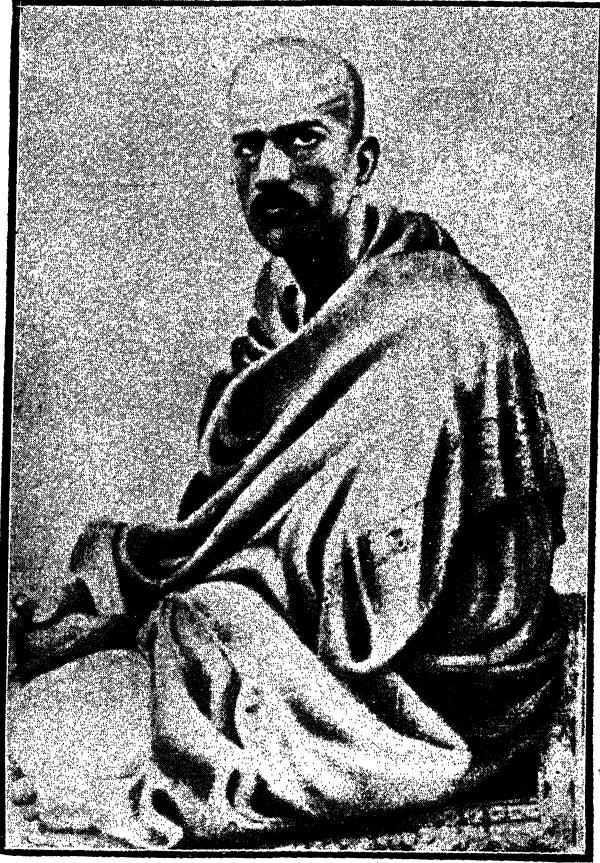
Pt. SITARAM SHASTRI OF BENARES.
He was a good scholar of Sankhya and Yog philosophy and took keen interest in the expansion of Sanskrit learning.

श्री पं० कृपाकृष्ण जानी।

बितियाराजपुरोहितसूरिकृपाकृष्णयाज्ञिको विद्वान्।
चयनेनेष्टकया यच्छिष्याः कूपमेकमुदचिन्वन्॥

स्थापन सं० २००१] [परलोक सं० १६२७
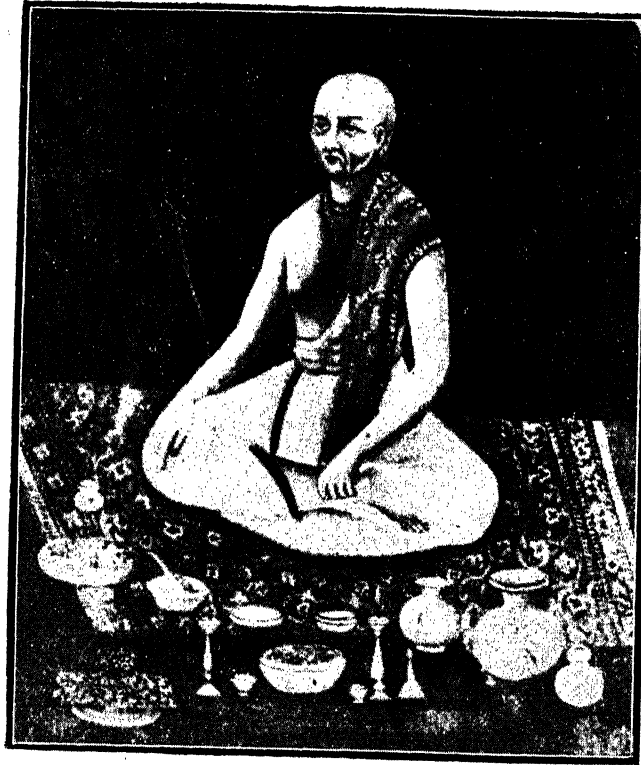
Pt. KRIPA KRISHNA YAGNIK.

He was a good Pandit karm-kandi Rajpurohit of Betiah (Behar).

THE VEDAS AND THE VEDIC LEARNING[1]

I

The study of the Vedas and their various Angas is pursued in India with great zeal along the traditional lines from immemorially ancient times. The world is quite familiar with the traditional Vedic Pandit. The traditional scholar is trained to appreciate the value of Vedic learning by the study of Nyaya and Vaisheshika, Samkhya and Yoga, Mimamsa and Vedanta —the different schools of Hindu philosophy. According to his view the ultimate sources of Dharma—the knowledge of good and evil, of right and wrong action—are the Vedas, and all useful learning—art and science, has sprung from the Vedas alone.

As opposed to him there is the modern Vedic scholar. This type of Scholar first came into existence with the recent contact of the West with India and her peculiar civilization. Modern western thought does not admit Sabda or verbal testimony as a separate means of cognition; there exist only two means of cognition—perception and inference. Thus according to it previous empirical experience and inference or general inductions from it, delimit the fund of human knowledge. The modern Vedic scholar is unable to emancipate himself from these prejudices of his environment and up-bringing even if he be a Hindu by birth. He begins his studies with the preconceived notion that all human speech and language are arbitrary and conventional and can proceed only from previous empirical experience; and as the theory of evolution postulates a primitive stage of the human life, he is prepared to declare the value of the Vedic utterances to be very little more than that of the gibberings of primitive mind crudely expressed. The Vedic practices of the present day Hindu—sacrifices, prayer, idol—, and ancestor-worship, caste and family law, each and everyone of these—are for him crude superstitutions fit to be discarded. All his efforts are directed to fix the date of Vedic compositions at an age which, according to his notions, derived from records from the history of other parts of the world, was well suited for such development.

[1] As this volume contains a separate Sanskrit article giving the Shastric exposition of this subject the quotation of Sanskrit texts is, as far as possible, avoided.

The diverse hypotheses put forward by modern Vedic scholars with respect to the probable period of the composition of the Vedas and generally regarding the place and value of Vedic learning in the scheme of human knowledge are too numerous to be examined in detail within the space-limits of any single essay. Their full consideration would demand several lengthy treatises. It is, hoewver, necessary to test the validity of a few of such hypotheses for illustrating how a scholar of this type is prone to reach logically untenable conclusions because he proceeds to his task on formulating originally defective premisses.

II

The subject of the composition of the Vedas has engaged the attention of scores of modern scholars. Different Indologists have "proved" that the Vedas were composed in different periods of time within some five or six millinnia before the beginning of the Christian era. All these Indologists naturally fall into four divisions according to the method of their approach to this problem; viz.: *(a)* those who have adopted the method of comparative philology; *(b)* those who have accepted astronomical references as guides; *(c)* those who base their theories on geological data; and lastly *(d)* those who proceed upon the data of political and social events and of names denoting personages mentioned in their connection. What surprises one, however, that not only the different epochs of time propounded by scholars belonging to these different classes greatly vary from each other, but even among scholars of any one class, i.e. among those who have followed the same method, and have examined and evaluated the same data in the solution of this problem, there is no unanimity of conclusions reached. There seems to be no hope left of this period being determined with a reasonable amount of certainty.

A

Max Muller who proceeded to examine the question with the help of comparative philology decided that the earliest portions of these works must have been composed about twelve centuries before the Christ. He assumed for his purpose one rule. He held on arbitrary supposition that each stage in the change of internal structure in the language as exhibited in the Samhitas, Brahmanas, Upanishads and the Sutras, would require

a period of 200 years to be completed. The Sutra period was generally admitted to be pre-Buddhistic. So giving 200 years to each preceeding period he arrived at the conclusion that the Vedic Samhitas must have been composed by 1,200 B.C. There are some other scholars who have accepted Professor Max Muller's method of solving this problem but assuming a different length for the period of time needful for the complete adaptation of the internal linguistic changes they have arrived at different results. But it must be noted that these philologists are generally unwilling to ascribe the composition of the Vedas to any period earlier than 2,400 B.C.

B

Lokamanya Tilak's contributions to the study of this problem on the basis of astronomical and geological data collected from Vedic sources are most notable among the second and third class of scholars mentioned above. In his first work on the antiquity of the Vedas (Orion, 1893) he showed that the estimates of his predecessors which were made on certain arbitrary assumptions concerning comparative philology were, besides being too modest, vague and uncertain. He pointed out that the astronomical statements found in the Vedic literature supplied us with far more reliable data for correctly ascertaining the age of the different periods of Vedic literature. These astronomical statements, he showed, unmistakeably pointed out that the Vernal equinox was in the constellation of Mriga or Orion according to the various anecdotes of the Vedic hymns. This proved, according to him, that these hymns were composed about the period 4,500 B.C. Later on, in the days of the Brahmanas Vernal equinox had receded to the constellation of Krittikas or the Pleiades which proved that the Brahmanas were composed between 3,000 B.C. and 2,500 B.C. Tilak's method of approach to this problem although novel, being based upon mathematical calculations was, much more accurate and thus was readily appreciated by many Indologists. Dr. Jacobi arrived at the same conclusions independently. The late Mr. Dixit and the late Mr. Ketkar separately worked on this line and each of them substantially strengthened Tilak's conclusions. Mr. Dixit could lay his finger on a passage in the Shatapatha Brahmana, plainly stating that the Krittikas never swerved, in those days, from the due east, i.e. the Vernal equinox. This fully corroborated Tilak's conclusions about the age of the Brahmana works. Mr. Ketkar, another Indian astronomer of repute, mathematically worked out

the statement in the Taittiriya Brahmana (III, 1, 1, 5) that Brihaspati or the planet Jupiter, was first discovered when confronting or nearly occulting the star Tishya, and showed that the observation was possible only at about 4,650 B.C. thereby remarkably confirming Tilak's estimate regarding the high antiquity of the Vedas. Some scholars like Prof. Bloomfield, M. Barth and Dr. Buhler, although they did not work up the problem by this method, freely acknowledged the force of his arguments and prepared their minds to give up their earlier suppositions based on philological grounds.

But these conclusions did not remain unchallenged in course of time. Certain Indian scholars of lesser fame but of equal integrity pointed out other astronomical statements from the Vedic literature which carried back this period of the composition of these works to fabulously ancient ages.[2] It was suggested by these scholars that there are references in Rig Vedic hymns of the Vernal equinox taking place in the constellation of Pushya and Chitra as well. Thus if we base the age of the Vedas on astronomical calculations the reference to the Chitra constellation in connection with the Vernal equinox would take the same to twelve or thirteen thousand years before the Christian era. It was also generally felt that as such references are not in each and every case equally plain and unambigious the application of this method for the solution of the problem was not safe.

C

Tilak's "Arctic Home in the Vedas" (1903) is the foremost work which carried the origins of the Vedic civilization to inter-glacial period. In this work he affirmed on the strength of many Rig Vedic passages, which were up to his time looked upon as obscure and unintelligible that many Vedic deities possess polar attributes; that the happy land of the Aryans was located in a region where the sun shone but once a year; and that this region was destroyed by the invasion of snow and ice, which rendered its climate inclement and necessitated a migration southward. His conclusions were :—

(i) The Vedic religion can be proved to be inter-glacial; but its ultimate origin is still lost in geological antiquity.

[2] Tilak himself acknowledged that there were faint traces of the Vernal equinox bieng once in the constellation of Purnarvasu, presided over by Aditi, which was possible in about 6,000 B.C. See The Aritic Home in the Vedas; p. 420.

(ii) This religion and culture were destroyed during the last glacial period that invaded the Arctic Aryan home.

(iii) The Vedic hymns were sung in post-glacial times by poets who had inherited the knowledge or contents thereof in an unbroken tradition from their anti-diluvian forefathers.[3]

Geologists, especially American, of his time had independently worked out that the last Ice Age must have commenced before 10,000 B.C. and ended by 8,000 B.C. Relying upon their results Tilak divided the archaic history of the Aryans and the composition of the Vedic literature into the following periods :—

(i) 10,000 to 8,000 B.C.—The destruction of the original Arctic home by Ice Age and the commencement of the post-glacial period.

(ii) 8,000 to 5,000 B.C.—The Age of migration. The survivors of the Aryans now roamed over the northern parts Europe and Asia. The Vernal equinox was in Punarvasu—the pre-Orion period.

(iii) 5,000 to 3,000 B.C. the Orion period. Vernal equinox in Orion. Many Vedic hymns can be traced to this period; the poets have not forgotten the significance of the traditions of the Arctic home.

(iv) 3,000 to 1,400 B.C.—The Krittika period. Vernal equinox in the Pleiades. The composition of the Taittiriya Saṁhita and the Brahmanas. The compilation of the hymns into Samhitas, a work of this period. The development of the Sacrificial system.

(v) 1,400 to 500 B.C.—The pre-Buddhistic period, when the Sutras and philosophical systems made their appearance.[4]

Thus according to Lokamanya Tilak the composition of the Vedas whether the astronomical or the geological data were utilized took place between 5,000 B.C. and 1,400 B.C. By the Vedas he means all the Vedic literature extending as far as, and including, the Upanishads. For a considerable length of time the results of Tilak's researches in both these directions commanded great admiration and respect in the world of modern scholars. The belief however, in the reliability of geological hypotheses

[3] The Arctic Home in the Vedas ; p. 457.

[4] The Arctic Home in the Vedas; pp. 453-454.

that the last Ice Age visited the earth as late as 8,000 years before the Christian era was much shaken by fresh discoveries of ancient relics of other ancient civilizations and now there is a general agreement among Indologists to very cautiously utilize propositions and statements regarding archaic Indian history based on geological phenomena. The value of Tilak's brilliant discovery of the Arctic home of the Aryans and the Inter-glacial origin of the Vedic religion has consequently considerably gone down.

The orthodox Hindu scholar was to a certain extent gratified by Tilak's researches. In his view they served to drive away the suppositions about the comparatively late composition of the Vedas which had taken deep roots in the mind of the English-educated Hindu. But to the orthodox scholar, both Max Muller and Tilak worked on the same pre-suppositions and both entertained equally erroneous notions regarding the value and true character of the Vedas and other works of sacred literature. It pained the orthodox scholar to find Tilak making statements like the following :—
"But as Manu, immediately after recording the duration of the Yugas and their Sandhyas, observes "that this period of 1,200 years is called the yuga of the gods" the device of converting the ordinary years of the different yugas into as many divine years was, thereby at once rendered possible; and as people were unwilling to believe that they could be in a yuga other than the Kali this solution of the difficulty was universally adopted and a Kali of 1,200 ordinary years was at once changed, by this ingenious artifice into a magnificent cycle as may divine, or $360 \times 1{,}200 = 4{,}32{,}000$ ordinary years......suffice it to say, that where chronology is invested with semi-religious character, artifices or devices, like the one noticed above, are not unlikely to be used to suit the exigencies of the time; and those who have to investigate the subject from a historical and antiquarian point of view must be prepared to undertake the task of carefully sifting the data furnished by such chronology."[5] The orthodox scholar asked for a criterion, which was quite independent and regarding the validity and correctness of which there could not be any doubt, on the strength of which the modern scholar would be justified to freely accept or reject the testimony of this literature. To him the arbitrary acceptance or rejection by the modern scholar of such testimony was caused owing to the needs with which each of such scholar was confronted in propounding his own theory

[5] The Arctic Home in the Vedas; pp. 425-426.

of the period of Vedic composition. The use of the first three methods of approaching this problem is now growing more and more rare among the modern scholars and the discovery of the relics of different ancient civilizations, especially the archaeological discoveries of the Indus Valley civilization, is one of the main causes for this disuse.

D.

A fourth class of scholars apply the historical method to the solution of this problem. This class of escholars is growing in recent years. In the songs of the Vedas, especially those of the Rig Veda, they often meet, with wars of kings, with rivalries of ministers, with triumphs and defeats, with war-songs and imprecations. They hold the Vedas to be studded everywhere with records of political and social events. The place of personages alluded to in these political and social events is examined by them with the help of genealogies and dynastic-lists preserved in the Puranas. And by arbitrarily assuming year-averages of generations or reign-periods the dates of these personages and events are attempted to be fixed. This class of scholars generally holds that by following up this historical method they can not only ascertain the date of the Vedic works with great accuracy but even reconstruct the pre-Bharata War political history of India. The names of Pargiter, Dr. S. N. Pradhan, and Prof. V. Rangacharya are worth mentioning in this connection. But as Professor Altekar's attempt in his address as the President of the Archaic section of the Ancient Indian History in the Calcutta Session of the Indian History Congress in 1939 is the most recent as well as the most definite one it will not be considered out of place if a fuller notice were taken of the data collected and the reasoning advanced by the learned scholar[6].

Dr. Altekar states the problem in this way :—

"The strongest evidence, however, in favour of the view that the pre-Bharata War dynasties mentioned in the Puranas flourished before the time of the Kauravas and Pandavas is the circumstance that the Pauranic data about many of the royal houses, kings and sages is confirmed by the Vedic literature to a surprising extent." (page 193).

[6] Throughout the following pages the Benares Hindu University Journal report of this address is used. See B. H. U. Journal Vol. IV. No. 3. pp. 183-224.

And a little further :—

"There are, however, quite a large number of cases where there can be no reasonable doubt that the Pauranic genealogies are really referring to kings who figure in the Vedic literature also." (page 194).

Then he gives twenty illustrations where according to him the different personages referred to in the different Vedic works can be given their right places in the Pauranic dynastic-lists and from this he has given us his inferences regarding the dates of Vedic compositions and the Aryan colonization of the Punjab, the Gangetic planes, and the Central India. He observes : "I have discussed above some twenty typical and clear cases, where we find the Vedic literature containing the Pauranic accounts about the kings, sages and incidents of the pre-Bharata War period......*its close study shows that it confirms to a surprising degree the information to be gathered from the scanty Pauranic accounts of pre-Bharata War dynasties on several important points. The conclusion thus becomes irresistible that the various pre-Bharata War dynasties are as real and historical as the Sisunagas or the Mauryas or the Andhras which are later described by them, and that we can be fully justified in reconstructing the political and literary history of the period with their help" (pp.* 201-202*)* (author's italics). And he has proceeded in his lecture to briefly do so.

The data collected by Dr. Altekar do not consist of facts pure and simple. Facts coupled with his own inferences are supplied as 'data' to base further inferences. But as the original inferences are based on insufficient evidence the "data" thus prepared have become defective for any further conclusions. This is illustrated by examining the following cases :—

"3. King Hiranyanabha of the same (Iksvaku) dynasty is described in the Puranas as a great yogeswara and a keen student of Vedic ritual. (Vishnu Purana IV, 4, 48, quoted by the author in support of this proposition runs thus :—

हिरण्यनाभो महायोगीश्वरो जैमिनिशिष्यः । यतो याज्ञवल्क्यो योगमवाप ।)[7]

Hiranyanabha Kausalya, mentioned in the Samkhayana Srauta Sutra (XVI, 9, 13) as the Hota of Atnara, and in the Prasna Upanishad as the proposer of some mystic questions to Sukesha Bharadvaja *would appear to be the same personage.*" (p. 195).

[7] It should be noted that the Purana describes Hiranyanābha as Mahayogiśvara only while our author gives additional description "and the a keen student of Vedic ritual" to make him appear the same as the Hoṭa of Aṭnara, without any authority.

The name Hiranyanabha occurs in all the three references and there is no other additional clear evidence to hold that the name given in the three distinct quotations from the three different works refers to one and the same personage.

"14 and 15. The Brahma Purana credits the sage Atri with the feat of restoring light to the universe by killing the demon Svarbhanu who had overpowered the sun. This legend which seems to owe its origin to Atri's astronomical skill in anticipating the occurrence and duration of a solar eclipse finds confirmation in the Kaushitaki Brahmana in all its important particulars." "The Rig Vedic evidence shows that the Atris were probably closely connected with the Kanvas; this is confirmed by the Pauranic account about the Paurava genealogy. Atri was a son-in-law of Riceyu an early king in the dynasty and the Kanvas are represented as descendants of a later king Ajamidha, through his wife Kesini. It is interesting to add that the Rig Veda IV, 44, 6 also represents descendants of Ajamidha as priests and singers." (p. 198)

It is not clear what proposition the learned lecturer desires to prove by these two paragraphs. The name Atri is connected with a legend given in the Kaushitaki Brahmana and the Brahma Purana. But this Atri is a great sage on the admission of both these works. While we do not know anything else about Atri connected with Riceyu of the Paurava dynasty than that he was his son-in-law. How could these two personages be proved to be identical on these grounds? The author himself has realized the difficulty and so he has changed Atri singular, in the first passage to Atris plural, in the next one. Still it is a very pertinent question how Atris in plural could be shown to be closely connected with the Kanvas as is shown by the Vedic evidence, from the Pauranic account of one Atri marrying a daughter of Riceyu a Paurava king from whom after some generations Ajamidha another Paurava king was related to Kanvas through his wife Kesini. But the author has drawn startling conclusions regarding the date of VIII Mandala of the Rig Veda as we shall see later.

"13. According to the Puranas an early king of Benares named Sunahotra had a younger son named Grtsamada, who became a great Vedic sage along with his son Saunaka.

(काश्य: कुशो वीरमद इति गृत्समदादभूत् ।
शुनक: शौनको यश्च बह्वृचप्रवरो मुनि: ।। Bhagavata Purana IX, 17, 3).

The Vedic tradition confirms this Pauranic account, for it assigns the second Mandala of the Rig Veda to Grtsamada, and internal evidence shows unmistakeably that Sunahotra was his father or ancestor." (p. 198)

The errors of commission and omission made in these two small sentences can hardly be exceeded. The Rig Vedic passage quoted (II 4. 1, 14), has the word "Shunahotreshu". This term would never indicate one person still our author takes this term to refer to the father or ancestor of Grtsamada. "Shunahotreshu" would indicate either a family or a whole gotra. Again, how the above Vedic passage can be understood to indicate Grtsamada to be the son or a descendant of Shunahotra without the help of the explanation in the Sarvanukramani, on which the author is not prepared to depend fully, is inexplicable. The first sentence in the author's passage gives us a Pauranic legend. The Bhagawata verse does not name Shunahotra at all; while the names of certain persons, viz. Kashya, Kusha, Viramada are given as sons of Grtsamada and Saunaka is decsribed as the son of Sunaka, not of Grtsamada. It is apparent from the traditional account given in Sarvanukramani that Grtsamada, the seer of the IInd Mandala, was born from Sunaka in the family of Bhrigu. But in a former birth he was born with the name of Angiras and as a son of Shunahotra[8]. If our author would depend upon this traditional account his whole theory that Grtsamada, the son of Shunahotra, an early Benares king, composed the IInd Mandala would fall through.

"6 There flourished in the Narisyanta dynasty just before the Bharata War a king named Jatukarnya who according to the Puranas founded a Brahmakula. In the Sankhayana Aranyaka (26-5) he figures as a venerable sage and a great authority on points in dispute in rituals and philosophy." (p. 196)

The author has not produced any evidence to show that Jatukarnya, of Narisyanta dynasty, who flourished just before the Bharata War and who founded a Brahmakula was the same as the one mentioned in Sankhayana Aranyaka. Yet there is a categorical statement, "he figures as a venerable sage etc." made by our author. It is plain that the learned lecturer has failed in the above quoted cases to unambigiously prove the identity of

[8] See infra p. and the note given there.

"Vedic personages" with that of those mentioned in the Pauranic lists.[9]

He has, however, produced these cases as the data for further inferences regarding the date of the Vedas. His conclusions about the composition of the various Rig Veda Mandalas can be stated thus :—

II Mandala—period of composition 2700 B.C. to 2500 B.C.
V Mandala—period of composition 2600 B.C. to 2400 B.C.
IV Mandala—period of composition 2000 B.C. to 1800 B.C.
III Mandala—period of composition 2300 B.C. to 1900 B.C.
VII Mandala—period of composition 2300 B.C. to 1900 B.C.
VIII Mandala—period of composition 2000 B.C. to 1800 B.C.

His conclusions may be stated in his own words :—"The Pauranic evidence thus shows that the hymnal activity of the Vedic period started sometimes about 2,700 B.C. and continued for more than a thousand years till the cannon was finally closed by the compilations of the Samhitas by Veda Vyasa about four generations before the Bharata War. This event may therefore be placed in *c*1500 B.C. Some late hymns composed just about this time like those referring to Santanu and Devapi were also included in the collection as the central figures therein belonged to the royal family with which Veda Vyasa was also closely connected. The later theory that the Vedic hymns ought to be preserved without the change of a single letter or accent did not exist in this age ; the language and vocabulary of the archaic hymns were to some extent assimilated to those of the later times." (p. 207)

There are four propositions made by the author in the above statement none of which is proved by the data produced. A critical examination of the data relied upon by the author and of his reasoning in the evaluation of that data is made in the following paragraphs.

(1) *(a)* His researches refer only to certain scattered names in the various Mandalas of the Rig Veda but he has nothing to say about the other Vedas. And we have seen above that these names are not unambigiously proved to refer to identical personages in both kinds of works—Vedic and Pauranic.

[9] Similarly other cases of identity produced by the author do not stand the test of careful examination. Considerations of space, however, prevent their detailed discussion here.

(b) Pauranic evidence is believed in for certain purposes and discarded for other purposes without any adequate reasons.[10] Compare the following two statements of the author made within the space of a few printed pages :—

"Puranas do not supply us with the reign-periods of any of the pre-Bharata War rulers, as they do in the case of almost every king of the post-Sisunaga period. If they had been inclined to give us a fictitious history they could have done so with great ease. This regard for the truth which they have shown is indeed admirable." (p. 202)

"The Pauranic tradition thus seems to be somewhat confused about the post-Bharata War dynasties and the number of reigns included in them. We cannot therefore arrive at any accurate conclusion about the data of the Bharata War on their basis." (pp. 215-6)

In the view of the learned author the Puranas are not to be relied on in their accounts of the reigns of those rulers who lived quite near the time when they were compiled and regarding whom they have supplied us with definite reign-periods as well as much other information. But they must be taken as infallible guides and historians "having admirable regard for truth" regarding accounts of events which even on the admission of our author took place thousands of years before they were compiled and of which they have recorded very little more than mere enumeration of a few dynastic lists.

(c) Information regarding Pauranic dynastic-lists as stated by the author do not supply us with any intelligible data about even such important events as the famous Dasarajna war. Here are two passages from the author :—

"17. It is well-known that the Vedic evidence shows that the Bharatas rose into prominence after the decline of the Purus and were themselves later eclipsed by the Kurupanchalas. From the Puranas we learn that Puru was the founder of the Paurava family and the kings Bharata and Kuru flourished later about 40 and 70 generations respectively.

[10] The Pauranic account of Revatiś marriage is lightly set aside by the author with his own interpretation on it not supported by any authority or evidence, and with this damaging remark against the authenticity of the Puranas : "Puranas......... cloak their ignorance by the strange story of Raivata's prolonged detention in heaven and the overthrow of his family in his absence."

The Panchala dynasty was also founded about 10 generations later than the time of Bharata. It will be thus seen that the Vedic and the Pauranic evidence confirm each other." (p. 199)

"20. King Sudasa, who was the hero of the famous Dasarajna War of the Rig Veda figures in the north Panchala dynasty of the Puranas, along with other members of his family like Vadhryasva, Srinjaya, Divodasa, Sahadeva, Somaka, etc. The precise relationship between some of these persons is not clear both in the Pauranic genealogies and Vedic hymns. I think that we can detect a reference to Dasarajna War in the Mahabharata also in the description it gives of the sad lot of the Paurava family at the time of king Samvarana. "When this king was ruling" says the great epic, "we hear that there was a great slaughter of people and the Purus (?) suffered in various ways. The whole nation was shattered. The Bharatas were attacked by their enemies in immense numbers. The Panchala king invaded the country with a great force, and the Puru (?) king had to fly to the west with his ministers, family and allies." Ultimately the Purus (?) formed an asylum somewhere on the bank of the Indus, where they lived for sometime. They then requested sage Vasistha to become their Purohita and bless and help their effort to regain their dominions. Vasistha agreed, gave the Puru King samrajyabhiseka and the Purus (?) eventually became successful in regaining their kingdom." (p. 200)[11]

From these two lengthy passages it would seem that the battle referred to in the epic verses was fought between the Panchalas and the Bharatas. The name of the Panchala ruler is not mentioned in any of these verses but the name of the Bharata king is given as Samvarana. On the calculation of the author it was 600 years (40 generations) after the Puru dynasty was founded the Bharatas rose into prominence and the Panchala dynasty was founded only 150 years (10 generations) later than the Bharata dynasty. Now it is very obvious on the basis of these statements that a war between a Bharata king Samvarana and any Panchala king can take place only after

[11] The Verses of Mahabharata quoted in support of the above statement give an account of a battle between the Bharatas and the Panchalas and not between the Purus and the Panchalas. In these verses the word 'Bharatas', as denoting the subjects of king Samvarana, recurs at least four times; while the words 'Puru' and 'Paurava' are not used anywhere. The Vedic evidence as the author asserts, refers to Purus and not to Bharatas.

the Purus had declined i.e. at least about 150 years after their decline according to the calculations of the author.[12] While the Vedic data even on the admission of the author show that the Purus were among the opponents of Sudasa and there is no mention of the Bharatas in the Vedic references about the War. What seems surprising is that although the epic verses in three places describe the struggle to have taken place between the Bharatas and Panchalas our author in his translation (given above) deliberately mistates the word Puru for the word Bharata and alludes to "the sad lot of the Paurava family", "the Puru king fled to the west" and "the Purus found an asylum", etc.

(d) The confusion which the similarity of names in Vedic references and the Pauranic genealogies has created in the mind of this learned author comes to notice in a remarkable manner in examining the details of this event of Dasarajna War. Vedic references tell us that Divodasa, Srinjaya, Sahadeva, Somaka and other members of the family of Sudasa were present in this war. Now according to the Pauranic genealogy of the Panchala dynasty, Somaka was the son of Sahadeva and Sahadeva was the grandson of Srinjaya. According to this genealogy Srinjaya is four generations junior to king Sudasa, the hero of the War, while Divodasa is the father of Sudasa. If the Pauranic genealogies are to be relied upon as unmistakeably true and if every similarity of name occuring in the Vedic passages and the Pauranic genealogies is to be construed in every case as a reference to identical historical personage, we are constrained to hold that the presence of Srinjaya, Sahadeva and Somaka in this War along with Sudasa and Divodasa makes Sudasa and Divodasa and their seventh and eighth descendants in the male line alive and vigorous enough to take active part in battle at one and the same time. But this shatters the whole basis of the learned author of reconstructing the pre-Bharata War history on the strength of Pauranic genealogies by giving 15 years to each reign period.[13]

(e) It is needless to refute the conclusions of the author in detail any further. But one or two illustrations more shall help to further en-

[12] The author has assumed that the average reign-period in the case of the pre-Bharata War genealogies to be 15 years. (p. 203)

[13] The author has realized this difficulty but to avoid it, although the relationship of these persons is very clearly stated, he bodly says :—"The relationship of these persons is not clear, etc." (p. 200)

lighten us on his manner of faulty reasoning. He observes :—"It is now high time that we should try to tackle the problem of Vedic chronology by this new method. Vedic scholars are agreed that the so-called family books of the Rig Veda constitute its earliest nucleus and the Pauranic evidence supports this conclusion. *We have shown above that Grtsamada* the founder of the family whose hymns are included in the II Book of the Rig Veda was a junior member of the Benares ruling family. He flourished about 85 generations or 1275 years before the Bharata War and so his time would be *c* 2,700 B.C. The majority of the hymns of this Mandala must have been composed during 2700-2500 B.C." (p. 204)

The proof of Grtsamada, the composer of the hymns, being alive 1275 year before the Bharata War alluded to by Dr. Altekar is nothing more than a bare similarity of names.[14] But what is the proof for the proposition that Grtsamada and other members of his family composed these hymns by themselves? In this very Mandala there are various hymns where it is declared that the Vedic verses directly emanated from divine source and that they were only seen or perceived by the Rishis in later times. II. 23. 2. is typical of such verses. Such verses are profusely spread over the whole Vedic literature. It is clear that these old Rishis, who perceived the hymns in later times believed them to be eternal. All the Vedas are declared to have been emanated from divine source or to be eternal and self-revealed and therefore we are required to accept the conclusion that the tradition about the eternity of the Vedas, or their divine origin, is as old as the Vedas themselves.

(f) The imaginary soarings of our learned author have reached a climax in the following observations: "The Pauranic tradition would show that the Vth Mandala would rank next to the IIIrd Mandala in

[14] It is shown above that according to tradition Grtsamada the seer of the IInd Mandala is the son of Shunaka in the Bhrigu family and not Grtsamada the son of Shunahotra in the Angiras family. What evidence has the author produced to contradict this proposition? If we were to believe in this account, as well as, the Pauranic lists as interpreted by the author, the date of the IInd Mandala will have to be fixed in a later period as the birth of Shunahotra Grtsamada was a former birth while that of Shaunaka Grtsamada a latter one :—

"य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत् ।
स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत् ।।"—सर्वानुक्रमणी.

As a son of Shunahotra his name was Angiras and not Grtsamada.

antiquity. We have already shown above how its traditional author Atri and his apparent success in predicting a solar eclipse are referred to both in the Rig Veda and the Puranas. According to the latter, Atri, was a son-in-law of king Riceyu of the Paurava dynasty about five generations later than Grtsamada. His time, therefore would be about 2600 B.C. and we should place the early hymns of this Book between 2600 B.C. and 2400 B.C.". (pp. 204-5).

Pauranic information recognizes the existence of several Atris. The Puranas themselves have not identified Atri, the son-in-law of Riceyu, with Atri, the hero of the legend. The author has himself admitted the severality of Atris in the sentence "The Rig Vedic evidence shows that the Atris were probably closely connected with the Kanvas etc." Thus there is no ground on which he can substantiate his conclusion that Atri the traditional author[15] of Vth Mandala was only five generations later than Grtsamada the composer of the IInd Mandala.

(2) The author has not given any shred of evidence for his second proposition that the hymnal activity continued till the time of Veda Vyasa and that the canon was finally closed by the compilations made by him about four generations before the Bharata War. There is a well-prsserved tradition that Krishna Dvaipayana Vyasa (Veda Vyasa) reclassified the Vedic literature in accordance with the traditional classification. The author has relied upon this tradition but only in an imperfect manner. It was useful for his thesis only to a limited extent as he had to admit that at least over a tolerably lengthy period the text of the Vedas has remained unaltered even to the accent of the words. But the other part of the tradition, that the classification made by Veda Vyasa was only a reclassification in complete accord with the traditional classification, clashed with his theory and so he had to reject it.[16]

[15] The tradition does neither admit the authorship of Atri for the V Mandala nor his relationship with anyone. It says :—

"मण्डलमनुक्तगोत्रमात्रेयं विद्यात् ।"

[16] The substance of the tradition can be stated as follows :—

The different Vedas are eternal and self-revealed, that is to say, non-human in origin. Among the Traivarnikas, different castes are the followers of the different Vedas. The complete study of that Shakha of the Veda to which one belongs is ordained as a Nitya Karma to each and every person belonging to these castes; and that has been continually carried on by them especially by the brahmanas among

(3) That Veda Vyasa included in the Vedic compilations certain late hymns like those referring to Santanu and Devapi as the central figures therein belonged to the royal family with which he himself was closely connected is the third startling proposition of the author. There is no authority for holding that Veda Vyasa tampered with the text of the Vedas through partiality towards his own ancestors if they can be properly so-called.[17]

(4) That Vedic hymns must be preserved without even a change of accent was a later theory; while during these compilations the language and vocabulary of archaic hymns were to a certain extent assimilated to those of later times is the fourth proposition of our author which also goes unsupported. The Pauranic verse quoted by the author (Vayu 61-59) is traditionally interpreted to mean that the differences in the readings of the Vedas are also permanent and without any specific origin and does not bear the significance which the author asserts. The difference of readings is permanent and eternal according to the Mimamsa interpretation while according to Vaiyakarana interpretation (which is not accepted by the approved tradition) such differences arise after every *kalpa* or *pralaya* on account of defective powers of Rishis in perceiving the Vedic texts. The interpretation of the author is novel and not accepted even by the Vaiyakarana school of thought. And Bloomfield's opinion which is given is hardly admissible as evidence.

these castes, from immorially ancient times as from preceptor to pupil generation after generation.

There are many periods of time, however, when this study becomes deteriorated but not extinct in respect of the whole Veda owing to natural causes. And so when correct knowledge of the Vedas and their branches becomes rare such sages as Veda Vyasa who are masters of the whole Vedic lore, have to undertake the task of again publishing information regarding the traditional arrangement and classification for the benefit of the ignorant and to instruct them or to get them instructed in their shakhas. This is a cogent explanation of the tradition of Vedic study being continuously carried on without a break by the Trainvarnikas from times whose beginning no one knows.

[17] Orthodox Hindus would consider this to be a very serious charge against such a venerated sage. But modern scholarship takes pride in making such passing remarks with the express attitude of exhibiting a show of learned and candid criticism but which is really a cloak taken to cover one's ignorance.

(5) That the above propositions of the author especially the first referring to the Vedic chronology are untenable if we take into consideration the statements made by him in reference to other contexts will be amply clear. In connection with the date of the Brahmanas he says: "The Pauranic tradition shows that the age of the Brahmanas would be *c* 1,600 B.C. to *c* 1,000 B.C." (p. 208) It is well-known that Brahmana works alone give all information regarding the various sacrifices and their details. And there is no other work extant today, or was extant at anytime, known to contain this information. Now if as stated above these works were composed after 1,600 B.C. Dr. Altekar himself would refuse to hold that the knowledge about the details of the sacrifices and about the results to be obtained therefrom was possessed by persons living in periods of time long anterior to this age.[18] Yet he has himself given us many instances of such sacrifices having been performed in remotely old times before the composition of the Brahmanas. He says: "The Kathaka Samhita states that the Apratiratha ritual enables one to conquer his enemies" and adds that it enabled Bharadvaja to win back the kingdom for king Pratardana. (p. 196) And at another place: "Rig Veda X, 98-5 tells us how Devapi officiated at Santanu's sacrifice and brought down rain from the

[18] If he or anyone else does not agree with the proposition he would say that such knowledge about sacrifices was preserved in memory although not collected in definite works. This requires us to hold that the works as known to us contain many redactions and interpolations; some from ancient memories and others from new events. No modern scholar has upto now taken pains to separate portions referring to preserved memory from other portions containing information regarding recent happenings. But even if he would attempt to do so the question shall not be solved. The construction of all past history is dependent upon the knowledge of records and traditons. Of these records are documents (papers, inscriptions, coins, paintings, etc.) and each document is and has to be taken as a whole piece, that is to say, made at one and the same time, and knowledge from its contents is one whole knowledge having an organic body of its own, each part or cell being naturally and inseparably connected with every other. If through clear and independent evidence it is proved that the document is not one piece but fabricated on different occasions or by different persons then we must hold that there are different bodies of knowledge perceivable from it: in fact it is not one documeut but so many different documents. So long as the immemorially ancient tradition of the singleness of character of the Vedic literature is not refuted by independent and unambigious proof, any number of such conjectures of modern scholars are plainly without any evidential value.

sky."[19] (p. 197). And further: "It is interesting to add that Rig Veda IV, 44, 6, also represents descendants of Ajamidha as priests and singers." (p. 198) How can we account for these sacrifices, sacrificers, and priests before the existence of works which exclusively furnish us with every kind of information regarding them? The logical conclusion seems to be that either the Brahamana works must have been of anterior origin or the Samhitas which mention these sacrifices must have been composed after the Brahmanas. Either conclusion would fully do away with the ingenious but artificial theory of the author.

(6) Dr. Altekar has some observations to make regarding the colonization of India by the Aryans. This is what he says in this connection: "The relics of the Indus Valley civilization show that the Aryans must very probably have come to India after that civilization disappeared sometime at about this very time. The evidence of this civilization, as far as we are able to understand it at present, thus seems to confirm our Vedic and political chronology, as outlined above on the Pauranic evidence." (p. 209) And his conclusions are: "The joint testimony of the Vedic and Pauranic traditions thus shows that the whole of the Gangetic plain upto Bihar, Central India and northern Deccan were already aryanized at least a century before *c* 2,000 B.C. And this need not cause any surprise, for we have already seen that the Aryans had penetrated into India sometime before 2,700 B.C." (p. 211)

Researches of the new excavations at Mohenjo-Daro and Harappa have given rise to certain previously unknown theories regarding the aryanization of India and her pre-Aryan civilization. Every modern scholar including Dr. Altekar agrees to hold that the Indus Valley civilization flourished there during the third and perhaps earlier millinnia before the Christian era. It must have disappeared (?) from India after this period. These new theories and the imperfect information on which they are based have made the scholars of ancient Indian history abandon their earlier notions regarding colonization of India by Aryans. Instead of allowing

[19] Would any modern man believe in the truth of these accounts? How can anyone by simply performing certain sacrifices—i.e. meaningless actions—bring about such results as winning back a kingdom or bringing down rain? Our author has no proper explanation to offer for these happenings as he had in the case of Atri regarding his feat of restoring light to the universe by the killing of Svarbhanu who had overpowered the sun. See page 9 above.

reasonably lengthy periods of time for the slow march of the Aryans in the by-gone ages through the different regions of India which they were wont to do they are required to contract this period to within very narrow limits and are forced to give new interpretation to the Pauranic evidence of the old genealogies. Dr. Altekar could not take the hymnal activity of the Vedas beyond the third millinnium before the Christ on these grounds and so he had to accept 15 years arbitrarily as the average reign period of pre-Bharata War rulers. But this has landed him into serious difficulties as we have seen above.

(7) I shall refer to one more example before I close this critical examination. Dr. Altekar has asserted that the Aryans penetrated into India by 2,700 B.C. He is very definite on this point as he says : "the beginning of the Vedic age cannot be taken back to earlier than *c* 2,700 B.C." (p. 209) But the genealogy of the Benares royal family has forced him to admit that that city was occupied by the Aryans even earlier than *c* 2,600 B.C. (p. 211) Even according to his calculations the Kurupanchala country was colonized by them between 2,200 B.C. and 2,000 B.C. How then Benares which lies to the east of this region and therefore in the opposite direction from which the Aryans are supposed to have penetrated India could have been occupied even previous to 2,600 B.C. i.e. even in 2,700 B.C. or before that ? This question is not answered by Dr. Altekar and no logically cogent answer can be given to it on the basis of the theory propounded by him.

E

We have before us the fruits of the investigations of four classes of modern scholars. But on perusing their works it is felt that even after a careful marshalling of all these researches a sense of futility still clings to many a scholar as he finds many matters still completely inexplicable to him. The ingenious devices and interpretations suggested to explain such matters appear unsatisfactory even to the suggester thereof. And he has to leave this self-appointed task in an incomplete form. The first generation of these scholars was less sceptic and more emphatic about assertions of propositions. And it is a strange phenomenon to find the later generations of modern scholars to be more guarded in their conclusions and more wary about any assertions. This ought to have been otherwise. As the studies of the sacred Hindu literature progress and are pursued more

vigorously and intensively and as the field of such studies widens and deepens the students of this literature should be in a position to collect more reliable data and ought to reach more definite conclusions about its nature and periods of composition. Paradoxical as it may seem at the first sight, its explanation is simple. As the knowledge of this literature widens the task of reconciling without any fear of contradiction all historically conflicting passages and references of these texts and of correctly fitting them into one true and homogeneous structure obviously becomes very difficult. The scholar of the earlier generations was not faced with these difficult situations. His fund of knowledge of this literature was comparatively small and consequently he did not know that by his researches instead of finally settling any issues he was raising new and previously unimagined problems for solution to his posteriors. Many Indologists have given up hope of reaching any accurate conclusion on the question of the date of the Vedas. Even an enthusiastic scholar like Dr. Altekar had to admit that "there is a general reluctance to utilize the Pauranic data for the reconstruction of the history of the pre-Bharata War period", and that the history of ritualism, "Vedic, post Vedic and non-Vedic, has curiously enough attracted few Hindu scholars". (pp. 186 and 165)

III

Why is this the case? Sometimes we come across the emark that the Hindus do not possess any historical sense. This may be true.[20] But

[20] The Vedas mention the Itihasa and the Purana; their anga works also mention them. We have before us the Mahabharata and the Ramayana, styled by the name Itihasas, and the Puranas. (The first two are denoted by the modern scholars as epics) These give us connected accounts of historical events and genealogies of different dynasties. These are the Itihasas of the Hindus; and traditionally they are believed in their entirety and held to be complete and accurate. Now if the Sanskrit term "Itihasa" is translated into English by "History" then it is incorrect to state that the Hindus lacked the historical sense according to this meaning of the term. If "history" denotes something else not found in the Puranas and the Mahabharata and the Ramayana then the ancient Hindus may be said to be lacking in that sense as they have not left behind any works disclosing their possession of that sense. The view of Dr. Altekar however, appears to be otherwise. He observes; "It was not by drawing upon fables or imagination, but by putting together Akhyanas

there are and there have been many other communities, besides the Hindus who also may utterly lack or might have so lacked the historical sense. Students of human history have attempted and written consistent as well as credible histories of such people. We have in such histories the histories of the different parts of our globe and of the different periods of time. Students of history equipped with the modern scientific tools and methods of historiography can be trusted for fixing the correct position and accurate interpretation of records of any time, place and people with a fair amount of success. If a document[21] or a tradition preserved in human memory has the attribute of a record, that is to say, if a document or such tradition were to contain, directly or indirectly expressed in it a record of any event which *actually* took place, then the possibility that the position of the event in time and space could with some certainty be fixated is also present. And secondly, if the internal evidence of the content of the document or tradition gives us any clue to the making of the document or origin of the tradition, or that some external evidence is available regarding the same, there is a possibility of the position of the making of the form i.e. the event of the making of the document itself or the foundation of the tradition, being fixated in time and space. The histories of even primitive communities have been written as there are some records (such as memorised oral traditions, songs, folk-lore or in other forms containing references to events) preserved by such communities. These documents and traditions give more or less connected accounts of the happening of events in the history of the those people. Thus all human history is dependent upon documents or traditions.

Upakhyanas and Gathas, which were dealing with the history and achievements of the different dynasties that the original Purana was compiled. It is therefore clear that historical material in the forms and stories and ballads existed in society from the Vedic period "and further" just as a section of society, the Brhamans had addressed itself to the preservation of the hymnal literature, another section of it, the Sutas, had dedicated itself to the cultivation and transmission of the Purana literature." (p. 189)

[21] The word document denotes any matter expressed or described upon any substance by means of letters, figures, or marks, or by more than one of those means which may be used as evidence of that matter; it being immaterial by what means or upon what substance, the letters, figures or marks are found or made.

A

History of a people is the knowledge concerning that people delimited by space and time as determined by documents or traditions. History of a human work is the knowledge of that work concerning the place of its composition, concerning the time of its composition and concerning the authorship of its composition as determined by all available documents including that work itself and traditions. History of the Vedas is the knowledge of the Vedas concerning the place of their composition, concerning the time of their composition and concerning the authorship of their composition as determined by all available documents, including the Vedas, and tradition. It can be written if there are available any documents or traditions giving us, directly or indirectly, accounts concerning the time, place and authorship of their composition. It can also be written only if the Vedas themselves have recorded as their contents, either directly or indirectly expressed in them, any event which has *actually* taken place in space and time. It is an admitted fact that there is no document available at present, or was available at any time, which directly or indirectly gives us any information concerning the time, place and authorship of the Vedas. And the tradition available in this connection flatly denies the character of a human work to the Vedas in a down-right manner. The modern scholar has, therefore, to fall back upon the Vedas themselves for the "discovery" of evidence in support of his various theories regarding their composition. But I think he commits a double error in attempting to write any history of the Vedas and Vedic times. First, he starts with an assumption (1) that the Vedas are human documents, that is to say, documents fabricated by means of human effort; and further he assumes (2) that the contents of the Vedas are records of past events which actually took place in time and space. These my statements may, at the first sight, seem to be ludicrous and we have to proceed very cautiously, step by step, for their correct appreciation.

B

Is the "Raghuvamsa" of Kalidasa one document or many documents? Is the Gibbon's "Decline and Fall of the Roman Empire" one document or many documents? Is any other lengthy and voluminous work composed

by a single author one document or many documents? To all these questions there is but one answer. All such works being fabricated by individuals as single works are single documents. How do we decide this? The knowledge is no doubt spontaneous but in works of human craftsmanship, it is verified by a further inquiry as to whether it was intended to be fabricated as a single work. Not fabrication by a single author but frabrication as single work is the deciding factor. This answer involves two conditions: *(a)* the document must possess the attribute of a single work; and *(b)* it must be fabricated. The term single work yields on further analysis the attribute of possessing a single or unique meaning. That is to say, the perusal of such a document or single work should present a single, harmonious and co-ordinated knowledge of its contents, or in other words, the contents have one single shape of an organic structure. Any document purporting to be serious and to have some effect has only one meaning and no other because the known object is to achieve some definite result. And fabricated means fabricated by means of human effort. It is not necessary that the effort must be of a single person. nor is it necessary that the document in order to be a single document must be made at one time. As a matter of fact there cannot be any one time for a document to be made. But it is essential that it must be fabricated as one whole work.

The Vedas satisfy the first condition; it is known that they have the object of achieving some definite result. But there is a real difficulty in holding that the second element of the definition of the term document is present in their case. Not only no one knows anything about the authorship of the Vedas but we are confronted with a long-standing reliable, and positive tradition regarding them that they are eternal and self-revealed and therefore no work of human authorship and belong to no time and place. The modern scholar before he begins his study of the history of the Vedic period for ascertaining the dates of the composition of the different works of the Vedic literature assumes that the Vedas are historical records. He also assumes that the Vedas, being voluminous, as they contain apparently conflicting passages and for various other supposed reasons, must have been composed by various authors, and as they are alleged to cover a very long period of history, must have been composed over a great length of time. In short the modern scholar holds the Vedas to be many human documents.

But the modern scholar never takes the trouble of examining the validity or otherwise of the tradition. The first proper theme in the study of his subject should be to prove the worthlessness of this tradition. I think unless this is done it is unjust to treat the Vedas either as one document or as many documents. If the nature of the historical material on which any author bases his conclusions is not scientifically tested, I think there will be no doubt, that the whole class of historians shall hold his conclusions to be illegitimate. But strangely enough no Indologist who has touched this subject has ever proved the anti-authentic character of this tradition or even showed the patience to examine its claim for credibility. On the other hand every modern scholar belonging to these classes has acknowledged and relied upon its existence and authenticity so far such acknowledgement and reliance served the purpose of demonstrating his theory.

C

The next and more important question concerning the nature of the Vedas is whether they are historical documents; that is to say, documents recording past events which *actually* took place in space and time. Here also the modern scholar begins with the same erroneous assumption that the Vedas are historical records, that is to say, their contents give us the statements of events which happened before they were composed. And here we are confronted with the same positive, long established and reliable tradition asserting that the Vedas are a work of an altogether different nature. The Vedas consist of (1) Rules; or positive and negative injunctions; (2) Mantras; or formulas which help in the recollection of proper actions, according to these rules; (3) Arthavadas; or explanatory passages, giving illustrations; and (4) Namadheyas; or terms denoting eternal objects. To properly appreciate the value of this assertion it is necessary to examine certain familiar cases. Take a copy of an authorized publication of a bare text of any enactment: say the Indian Penal Code. This printed copy shall be a document for certain purposes. It bears the date of publication; it gives the date of the passing of the enactment by the Indian legislature; it may state the area of its jurisdiction. All these statements are evidence of certain matters relevant in the inquiry about the history of the Indian Penal Code. If the rules of which the Act is composed are variable and

have been actually modified from time to time, a knowledge of such modifications and amendments (if it is available from the copy of the Indian Penal Code we have before us) shall be useful in making inferences regarding the development of the penal legislation in the country. But now let us suppose that we have a copy of the Penal Code giving us bare rules and certain imaginary illustrations elucidating these rules. Suppose that the initial statements and sections dealing with the date of the passing of the enactment or with the area of its jurisdiction are deleted and that there is no information regarding any modifications made in the body of the Code. For what kind of inferences such a copy of the Indian Penal Code be useful? It may still be possible from the copy before us to draw inferences regarding the paper on which it is printed or the printing type with which it was printed. As the rules are of human making it may be possible to infer something from them, that is, from the content of the enactment regarding the mental attitude of the person or persons, whether known or unknown, towards the subjects dealt with by the rules of the code. Even in such a case this copy of the Indian Penal Code can be termed a document. Legitimate and correct inferences regarding the authorship and the date of the code can be made only if we possess another document or tradition directly or indirectly referring to this code and giving us clues on these two subjects.

Let us take another example. Let us take a manual giving a certain number of rules of either physical or chemical laws, illustrated by means of examples. Here, if the name of the compiler is not given and if it cannot be discovered by any means, no inference can be drawn regarding the authorship of the compilation from the contents of the work. Similarly if we imagine that there is no paper, no printing, no publication date, in fact if we imagine that we have before us no book printed or written on paper, but bare rules, with illustrations elucidating the same, in words, committed to memory and transmitted to us, generation after generation, in an unbroken and an untampered tradition, of preserved memory is it legitimate for us to denote this set of rules as a human document or documents? The rules have got eternal validity and significance; the illustrations which are given to elucidate the rules are imaginary concrete cases which may exist in any period of time and in any given area of space if they are actually worked out through human agency in that period of time and that given area of space. The names of substances which have become

the subject-matter of rules are also eternal as they denote only species and not sensuous entities ; that is to say, the word and the substance indicated by it are permanently united to each other as the referee and the referend.

IV

What then is the content of the tradition concerning the nature of the Vedas ? According to the tradition, (A) the Vedas are a single entity ; (B) they are the only source of the knowledge of good and evil, of right and wrong action ; (C) they are eternal and self-revealed and, therefore, are no work of human craftsmanship; and (D) they possess inherent validity.

A

The Vedas are a single entity. They consist of many parts or limbs. But as the different limbs of any organic structure do not entail a separate consciousness of apprehension when the structure is perceived as a whole so the existence of the different parts of the Vedas cannot and do not entrench upon the unique nature of their entity. The Samhitas, the Brahmanas, the Aranyakas, and the Upanishads; the Rig Veda, the Yajur Veda, the Sama Veda and the Atharva Veda; all these are parts of one and the same structure and have join existence with each other. There is no time-sequence noticeable anywhere regarding the knowledge of their existence. The verses of the Rig Veda imply the existence and knowledge of the other Vedas. So is the case with the Yajur Veda, the Sama Veda and the Atharva Veda. Each one of these, assumes the existence and knowledge of all others. The texts of the Samhitas presuppose the existence of the Brahmanas, Aranyakas and the Upanishads. So is the case with the Brahmanas, Aranyakas and the Upanishads. Each one of them takes for granted the existence and knowledge of all others. The Vedas are being studied as a single work from immemorially ancient times by the Traivarnikas ; each branch being studied by its own section or caste of the twice-born as an obligatory duty. All such sections exist from ancient times whose beginning no one knows. Sacrifices which entail a perfect knowledge of all the parts of the Vedas are being performed from equally ancient times. Numerous Rig Vedic passages postulate the existence of the elaborate Sacrificial system as is known today. Such passages are literally strewn broadcast throughout

the Rig Veda. Only a few of them are quoted below by way of illustration. The existence of the Yajurveda and the Adhwaryu is presupposed in Rig III, 7, 7 ; V. 62, 5 ; VIII. 4, 11 ; 32, 24 ; X. 181, 3 ; 90, 9 ; that of the Sama Veda and the Udgata in Rig II, 43, 1 ; 23, 16; V. 44, 14 ; VIII. 81, 5 ; 95, 7 ; 29, 10 ; X. 36, 5 ; 78, 5 ; 90, 9 ; and that of the Atharva Veda and the Brahma, in Rig I, 83, 5 ; 14, 6 ; etc. As the Samhita portion of the R g Veda mentions the main elements of the scheme of a sacrifice it goes without saying that this portion assumes the existence of the Arnayakas and the Brahmanas which give us the elaborated scheme in details. Suktas of Rig Veda Samhita of the type of the famous Nasadiya Sukta give us a glimpse of the high philosophical speculations of the Upanishads. The Rig Veda is recited first according to the sequence of Vedic recitation traditionally followed ; its verses have precedence. Still its Samhita gives all this data supporting the tradition that the whole Veda is one work, a single entity. According to modern theory the Rig Veda Samhita is oldest. How does a modern scholar then account for this part of the tradition that the Vedas are a single entity supported as it is, by such strong evidence of overwhelming data ?

The Vedas have a singleness of purpose ; they are not disharmonious conglomeration of literary pieces without having any sort of connection with each other. Throughout the ages known to history all the Vedas are known to have given us knowledge having the same general characteristics. They have never varied ; nor are they known to have ever contradicted themselves. There is no vagueness or ambiguity concerning the knowledge obtainable from them regarding any subject.[22] This knowledge is definite and it has guided the lives of the Vedic communities from times immemorial in an unerring manner. The preservation of the Vedas in human memory, word by word, nay even syllable by syllable, without even an accent or emphasis changing, and the attempt to guide all actions mental, as well as physical, in accordance with the directions received from them in face of the ever-changing external circumstances has been the

[23] There are a few directory sentences touching quite unimportant matters where some ambiguity is noted ; e. g. उदिते जुहोति । अनुदिते जुहोति । and अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति । नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति । regarding whose interpretation the Mimamsaka is prepared to accept the binding character of both of them leading to the adoption of an alternative rule.

main ideal of the Vedic Hindus throughout known history. And this ideal is continuously maintained by them on the strength of a continuous and firm inference in the truth of the tradition that the Vedas are the only source of the knowledge of good and evil, of right and wrong action. It is, therefore, plain that the Vedas have been continuously treated as a single entity by the Vedic Hindus, and there is no evidence available to contradict this fact about them.

B

We have seen above that for proving the singleness of the Vedas we depended, among other manifold evidentiary data, on the fact that the Vedic Hindus hold that the Vedas are the only source of the knowledge of good and evil and of right and wrong action. This is the second part of the Vedic tradition referred to above. Its validity has to be examined now. The Vedic Hindus hold that all their learning—art and science—has proceeded from the knowledge of the Vedas, and so the correctness and propriety or otherwise, of every act, physical or mental and covered by any branch of knowledge, is ultimately to be tested on the touchstone of the Vedas. It is from the Vedas the Vedic Hindus know, and have so known from times beyond human memory, that acts bring about imperceptible results along with perceptible results; and it is from them alone the knowledge as to what those imperceptible results would be in case of particular actions is obtainable. The Dharmashastra, which is a special science giving all rules of knowledge of this variety, is in the last stage dependent upon the Vedas for each and everyone of its rules.

The reasoning on which the above proposition rests can be stated in the following words. The design of every act includes within itself the reflection whether the doing of it shall bring about a good result or not. A man does an act with a view to achieve good or a desirable (which is the same thing as good) result. In other words a person would entertain a design for the doing of such an act only regarding the desirable consequences of which he has previously satisfied himself. It cannot be denied that the continuous tendency of the Vedic Hindus as evidenced by their whole history is unmistakeably directed towards the doing of what are declared by the Vedas to be good or right acts and to avoid the doing of those which are declared to be evil or wrong acts. But there are several

species of acts the doing of which is not associated with any perceivable result while there are others which are associated with even apparently desirable perceivable result. The performance of a sacrifice and the eating of the flesh of a specified animal such as "Kalanja" are two examples of such acts. The first brings about no perceivable result, the other is attended with on apparently desirable result. But still from times beyond the recollection of human memory the first act is declared by the Vedas to be a virtuous, or good, or right action ; while the second act is declared to be a sinful, or evil, or wrong action. It is obvious, therefore, that the basis for arriving at such a conclusion must be independent of and supernumerary to the normal human powers of cognition. As a matter of fact actions which bring about exclusively desirable or undesirable results which are perceivable by senses do not form the subject matter of the Dharmashastra at all. It is only those actions which are attended by either exclusively imperceptible results or which are associated with both perceptible and imperceptible results that constitute the subject matter of the Dharmashastra. The rightness or the wrongness of such actions, that is to say, the good or the evil character of the imperceptible results springing from them is ascertainable and has been so ascertained for all these ages by the Vedic Hindus by reference to the Vedas and to those other sources which have drawn their information exclusively from the Vedas. In short the sources of the Dharmashastra consist of the Vedas, those Smritis and Puranas which are consonant with the Vedas, and those immemorially long-established usages which are also not opposed to the Vedas.

Human intercourse in all stages of civilization assumes that there is a difference between right and wrong, and that men ought to do right and refrain from doing wrong. There is implied in every such ethical judgment the idea that there is something which is intrinsically good, which it is reasonable to do, which is right, which ought to be done. But regarding the true test of right and wrong—whether it is the will of God, or living according to nature, or the dictates of conscience, or the principle of utility, or the preservation of the race, or the development of individual personality from what it is to what it has the capacity of becoming, or anything else—the Western thinker has not as yet reached any generally agreeable conclusion. To the Vedic Hindu, the intrinsic goodness of an ethical judgment is derivable from the knowledge of the Vedic injunctions alone. To him this

goodness cannot be anything else than the definite assurance held out by the Vedas that the particular ethically good action is going to yield some desirable result in the next world. And although this goodness of conduct may, or may not, yield a directly perceivable desirable result in this world; yet as everyone else of the fellow-citizens of the doer of this ethical act also implicitly believes in the truth of the Vedas, the act under consideration has in their estimation ennobled the doer thereof. And thus the doer becomes the receipient of the perceivable result of being recognized in the society of his fellowmen as a virtuous person. To that extent his position in the community to which he belongs is perceptibly raised. There is no other action which brings about this result; and no other result, such as wealth, power, and gratification of the senses brought about by anti-Dharmic or in other words anti-ethical action, stands on an equal footing with this result. For the Vedic Hindu, therefore, goodness of conduct, as assured by the Vedas and the Vedas alone, possesses a higher worth than anything else in the world.

It is equally clear that the opinion of a few or even the majority of his own fellow-casteman does not deflect him from his view of the goodness of his conduct. And obviously so, because the goodness or otherwise of conduct is not at all dependent upon the opinion of his fellow-citizens whether they are few or many. This point has been very lucidly explained by Vijnaneshwara, the author of the Mitakshara. While commenting upon the 226th verse of the Prayashchittadhyaya of the Yajnawalkya Smriti he says :—"A sinful action brings about results in two directions : viz. *(a)* the doer has to undergo experience of hell in the next world; and *(b)* he has to undergo experience of boycott of social relations in this world. These two are separate and independent results. The performance of appropriate expiation for avoiding the consequences of a sinful action results in avoiding the one, or the other, or both the consequences of such action according to the direction laid down in this connection in the works of the Dharmashastra." From this it is clear that even if any community as a whole would adopt any sinful action as an approved course of conduct the sinful character of such course of conduct would not abate from it on the ground that now there is no person belonging to that community in whose opinion the specified course of conduct was sinful and who would, therefore, declare it to be sinful and severe his social relations with others

who have adopted such course of conduct. In such a case one of the two results attending the sinful action fails to follow; viz. the social boycott of persons who have adopted a sinful course of conduct, as all persons belonging to the sinning community have by doing the action erred equally and there is no person left who can enforce boycott upon the others. But the other result, viz. that of suffering the experience of hell in the other world, still continues to subsist and to attach itself (so is ordained by the Dharmashastra) to the doers of the action. Hence it follows that according to the conception of the Vedic Hindu, the Vedas alone are the ultimate source of good and evil, of right and wrong action. The opinion of the majority or even of all the members of the group, or of strangers is not capable of altering the ethical quality of an action covered by the rules of the Dharmashastra.

Such other works as the Smritis and the Puranas have, to establish their claim for being even secondary sources of the Dharmashastra, not only to prove their non-opposition to the Vedic injunctions, but in addition, have to prove that their authors were profound scholars of the Vedas; that they had direct knowledge of many more Vedic texts than are now extant to us; that they were persons of deep piety whose sole desire was to confer benefit through their efforts upon their fellowmen; and, therefore, there can be a reasonable inference based on these facts, that what they have stated in their works as good or evil, in excess of the knowledge derivable from the extant Vedas, must be based on Vedic injunctions which their authors might have known and studied during their times and the memory of which, owing to defective capacity, the moderners have lost.

The long-established usages of the wise and the religiously-minded persons of the different communities are also a soruce of the Dharma for members of the respective communities. The grounds for holding these usages a source of the Dharma are the same. The usages have taken deep roots in the different communities over an immemorically long period of time. And in each generation the wise and religiously-minded persons of such communities have conscientiously followed these usages even while suffering great personal discomforts and privations of various kinds. Why have they done so and why do they continue to do so? They do so because they infer that by so doing they are doing a good action which would bring an imperceptible desirable result to them. But the immediate ground for

this inference is that the wise and religiously-minded persons of the past generations in their communities have done so. Now if in this way we take into consideration the long chain of the grounds of inferences of the wise and the religiously-minded men of each former generation we come to a stage of time when the authors of the Smritis and other sages flourished. In these times, we can infer, that the wise and the religiously-minded men of each community must have possessed much wider and deeper knowledge of the Vedic texts than we now possess. And we are justified in inferring that those actions which they laid down for themselves as Dharmic actions, although we do not at present come across with the original injunctional passages in the extant Vedas supporting these actions, must have their origins in the commands of the Vedas as known to them.

It is now hardly necessary to support this part of the tradition by giving references of those works of human making which are also recognized by the Vedic Hindus, subject to the authority of the Vedas, as authoritiative in this subject. But an indication of a few by way of specimen would add weight to the above argument. Gautama, the most ancient author of an extant Dharma Sutra, says: "The Veda is the source of Dharma and the tradition and practice of those that know the Veda." (I, 1-2) Apastamba, who is nearly equally old, says: "The authority for the Dharma is the agreement of those that know the Dharma and the Vedas." (I, 1, 1, 2) Vasishtha says: "Dharma is laid down in the Vedas and the Smritis; in the absence of these two the practice of the wise is a source of the Dharma. The wise man must be a person who is not covetous." (I, 1, 1, 2) The Manu Smriti lays down five sources of the Dharma, the latter four, besides the Vedas, being dependent upon the Vedas: "The whole Veda is the foremost source of the Dharma, and next the tradition and practice of those who know it; and further the customs of virtuous men and self-satisfaction." (II. 6) Yajnawalkya declares: "The Vedas, the Smritis, the customs of good men, what is agreeable to one-self and desire born of due deliberation— this is traditionally recognized as the source of Dharma." (I, 7) There are many more such passages in Smriti works. In fact each and every work which is recognized as authoritiative by the Vedic Hindus of today (and this includes each work of Dharmashastra which is recognized as authoritative even today in a British Indian Court for deciding any question of the Hindu law) honestly and humbly accepts the over-riding authority

of the Vedas in all matters of the Dharmashastra. So the conclusion would irresistibly force itself that even on an external examination of the problem, the Vedas are the only and ultimate source to a Vedic Hindu of the knowledge of the good and evil, of right and wrong action.

C

In examining the second part of the tradition that the Vedas are the only and ultimate source of the knowledge of good and evil we had to depend upon a proposition that the Vedas assure us that actions bear results imperceptible by the normal human senses and that the Vedas give us information on this head. So it is proper to examine the capability of the Vedas to supply us with knowledge of this nature and consequently it becomes necessary to probe further deep into the question whether they are works of human authorship or whether they are eternal, self-revealed and, therefore, no work of human craftsmanship.

It is an admitted fact that there exists no external evidence from which the authorship of the Vedas can be inferred. We do not possess any document which directly or indirectly refers to this authorship or to the period of their composition. This is the case not only with the Hindu literature but even the Jain and the Buddhist ancient literatures do not mention the name or names of any author of these works. It is notable that the Jain and the Buddhist pandits had to demolish, what was in their view merely a theological dogma of the Vedic Pandits, the eternal and the self-revealed character of the Vedas. And so in those old days they must have put forth their utmost efforts to discover the real author of the Vedic works. It was some centuries before the beginning of the Christian era that both these sects of the dissenters from the Vedic Dharma separated themselves from the religion of their forefathers. They rebelled against the alleged tyranny of the Brahmanas, and the Brahmanism. If as some of the modern scholars hold, the composition of some parts of the Vedic literature such as the Upanishads was going on as late as the sixth or the seventh century before the Christian era, it is an inexplicable phenomenon that even the Buddhist and the Jain scholars, whose main aim was to discard the authority of the Vedas and revolt against the tyranny of the Brahmanas (who in their view under the cloak of such authority used to aggrandise their position), did not, in their attack on the Vedas and the Brahmanas, publish the names

of the Vedic authors and thus demolish this utterly baseless dogma by one flourish of their argument.[28]

But even the Jain and the Buddhist sects might be put aside as of later origin. There are several other sects which claim their origin even previous to the age of these two. The Charvakas and the Aushanasas appear to be earlier in point of time than the Jains and the Buddhists. Although these are sects of atheists, that is to say, of non-believers in the authority of the Vedas, and although their main aim was, as in the case of the Buddhists and the Jains,to falsify the dogma of the orthodox Hinduism still their original authors were not able to discover the true Vedic authors. But on recognizing the futility of such researches the Charvaka author in exasperation exclaims, that their authors are three, viz.: Dhurta or the cunning; Bhanda, or the buffoons; and Nishachara or the feinds and goblins. Thus it is plain that no person belonging to any age whether Vedic or non-Vedic, has ever been able to discover the names of the authors of the Vedic compositions.

If we take human nature into consideration we have to recognize the existence of self-commendation as one of its material traits. There is an inherent propensity of exhibiting to the gaze of the public eye one's own name along with any contribution to art or science one might have made. Besides this, if any work of human effort has been accepted as an important addition to the fund of human learning whether of art or of science, then man, either in grateful remembrance of the author who was responsible in making such important addition to the fund of human knowledge or to specify and separately denote this piece of knowledge from all others belonging to the same branch of learning, makes special effort for carefully remembering the names of such authors. The Vedic Hindus along with the other communities of the world are accustomed to do it and do traditionally remember the names of very ancient authors such as Yaska, Pingal, Panini and a host of others. But important as the Vedic utterances are and although they have exclusively regulated the lives of millions of people through ages and ages, that is to say, although for

[28] On the other hand the Jains admit the divine character of the Vedas but state that the Vedas, as at present known among the Vedic Brahmanas, are corruptions, and therefore not trustworthy in matters of Dharma. See Trishashthi Shalaka Purusha Charitra I, vi, 247, 248, 256.

these millions of people no other more important contribution to their fund of knowledge can be imagined, it is surprising to an extreme degree that neither the authors of these compositions have taken care to see that their names are preserved in memory by their followers and that none of the millions of persons whose lives have been so regulated has taken any care to remember these names.

Now we turn to examine the internal evidence of the Vedas regarding their nature and the nature of the language in which their Suktas are perceived by us. Can we on an examination of the hymns themselves ascribe their authorship to the Rishis, or whether the examination yields the result that these hymns have existed from times immemorial, or in other words, whether they are eternal and without a beginning? There are certain hymns in the Rig Veda which contain certain terms denoting the meaning that the poet has made (kri), generated (jan), or fabricated (taksh), a new (navyasi or apurva) hymn (I, 47, 2; 62, 13; II, 19, 8; IV. 16, 20; VII, 95, 5; X. 23, 6; 39, 14; etc.). But along with these there are equally large number of hymns where the Rishis state in unmistakeable terms that the hymns sung by them were the inspirations of Indra, Varuna, Soma, Aditi or some other deity; or that these verses directly emanated from the Supreme Purusha, or that they were given by gods, or generated by the gods and only seen or perceived by the Rishis in later times (I, 37, 4; II, 23, 2; VII, 66, 11; VIII, 59, 6; X, 72, 1; 88, 8; 90, 9; etc.). We are also told that *vach* or the language of the hymns is nitya or eternal (VIII, 7-5, 6; X, 125) or that the gods generated the divine *Vach* or speech and also the hymns (VIII, 100, 10; 101, 16; etc.). Here the question that offers itself for solution to us is whether by putting reliance on the hymns of the first type we should discard the testimony of the hymns of the second type, or *vice versa*. Our first instinctive decision would be to discard the testimony of the hymns of the latter type. Besides the Vedas there is no work composed of sentences known to us as of non-human origin and so we are not at the outset capable of stretching our power of inference to such an extent as to admit the characteristic of a non-human production to the Vedas which are unique and have no parallel. But on reflection we ask ourselves the question: who must have been the person or persons, to have known by his own faculties of knowing, that is to say, by the aid of his power of perception and power of inference therefrom, the special kind of knowledge postulated by the Vedas. The main purpose of the Vedas is to give

publicity to an injunction in respect of an action the result of which is or would be imperceptible to human beings by the use of their faculties of perception and inference. Now such kind of knowledge, that is to say, knowledge which is unobtainable through the aid of the normal faculties of human beings, cannot be either postulated or confirmed by any human being; for the postulation of such knowledge by a human being would involve the further condition that, that human being had obtained such knowledge from an extraneous source which cannot be a human being himself. If it is otherwise, that is, if the remoter source is a human being then again the question as to by what method that human being obtained that knowledge, when it is not capable of being obtainable through faculties available to human beings, would again arise. And for an answer to this question we shall have to search again for an independent source of knowledge. It is useless to proceed in this way *ad infinitum*. It is better to stop at the Vedas whose authorship no one knows.

Then, how can we explain those hymns where there is a reference to the *making* of them. There must be a proper explanation of the use of the terms such as 'made' 'generated' 'fabricated' etc. In every day speech we use the term 'Kri' 'to make' in several senses; primary as well as secondary; and the sense of such word as 'Kri' which would be declared as appropriate at a particular place, would be decided according to the context. We call an ornament maker—a gold-smith; a smoulder of iron—an iron-smith. The Sanskrit terms are Suvarnakar and Lohakar. In case of both these words the meaning of the syllable 'Kar' suffixed to Suvarna and Loha denotes an artist who makes an operation on gold and iron so as to prepare things from them. But he is not a maker of either gold or iron only because he is denominated by terms Suvarnakar or Lohakara. In the same way the 'makers of the Vedic verses' is to be understood in the subsidiary sense of the term 'Kri' as those who have made certain operations on such verses and not made the verses anew by themselves where there existed none in times previous to their operation.

One more indication of this nature of the Vedas, that is, the Vedas are not works of human craftsmanship, can be pointed out from the Vedas themselves. It is well-known that most of the hymns of the Rig Veda are incorporated in the Sama Veda. These hymns are recited as prose texts by the Rig Vedins while they are sung by the Sama Vedins in a determinate

rhythmical system. The peculiarity of these Sama Veda songs is that for the song of each hymn the rhythmic harmony into which it is to be sung is definitely laid down and is known to each singer through traditional knowledge only, handed down from preceptor to pupil in each generation. There is no room for introducing even the slightest change anywhere in the mode or method of singing. Even when this is so, we come across one injunctory sentence at one place in the Sama Veda, viz. यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति ।[24] The meaning of this sentence and the content of the injunction are plain. The sentence means: "He is to sing the next two hymns with the same rhythmic harmony as he sings the first one." That is to say, the singer has to make effort by himself and try to utilize the same tunes and harmonious sounds in singing the next two hymns which he uses in singing the first hymn and the knowledge of which he has obtained from tradition. Now if we were to examine the actual way in which these three hymns are sung by the Sama Vedins we come to know that in the case of none of these three hymns the singer is either required or expected to use his own efforts to construct the rhythmic mode of their music. He is aware of the particular melody from traditional information handed down to him by the preceptor-pupil method. He sings the first hymn as it is sung traditionally; he sings the latter two hymns exactly in the same mode as they are traditionally sung. So if we take into consideration these facts together with the existence of the mandatary sentence quoted above what legitimate inference follows? The first natural inference from the existence of the injunction would be that we can think of a period of time when the mode of the singing of the latter two hymns was not made determinate and some individual who was expert in the singing of the first hymn undertook the preparation of the music of the next two hymns, in accordance with the mode of singing the first hymn. As the Vedic sentence enjoined the singing of these hymns in the same melody as that of the first one, it was necessary to do so for the use of the rest of the singers. But then the question arises how could he or anyone else know for the first time the melody in which the first hymn was to be sung? In the present state of our knowledge we know that all the three of them that is, the first hymn and the next two, are sung exactly in the same fashion and following the traditional mode in both the cases. The existence of the mandatary

[24] See Bhatta Dipika Ch. IX.

sentence, however, leads us to the inference that before the fixation of the mode of song of the latter two hymns only the first hymn was being sung in accordance with the traditional method. But there is no material available from which we can know as to how, when and by whom the mode of song of the first hymn was ever fixed? That is to say, from the Vedas themselves we know that modes of song of some of the Sama Veda hymns are only traditionally known from preceptor to pupil while the music of other hymns is to be constructed upon the music of these.

It is true that we do not even remember the name of the singer (or musician) who constructed the music of the latter hymns. But as these latter are to be sung exactly in accordance with the former one no harm has actually resulted although we have forgotten his name because we know the mode of singing from that of the first one. In the case of Smritis we cannot afford to forget the names of their authors as they supply us with new information regarding the rightness or wrongness of action, which is not available in the extant Vedas. Before we can infer that this information is correct we must know that the person who has supplied it to us was a very learned and pious person, who knew many more texts of the Vedas than are known by us, and further that he was a very kindhearted person whose sole desire was to be useful to his fellowmen, and so he could not have committed any mistake in giving us this information.

In the preceding paragraphs of this section the evidence offered by some external as well as internal material has been examined. On this examination it was found that not only there was no definite evidence available to refute the truth of the tradition regarding the non-human origin of the Vedas but on the other hand good positive evidence substantiating the tradition could be obtained from the Vedas themselves. Lokamanya Tilak himself has freely admitted the value of this evidence in his observation: "But the explanation fails to account for the statement that the Rik, the Yajus and the Saman, all emanated from the Supreme Purusha or the gods; and we must, therefore, conclude that the tradition about the eternity of the Vedas or their divine origin is as old as the Veda itself."[25]

The greatest objection, however, in the matter of the truth of this part of the tradition is taken on the ground that as the Vedas are composed

[25] See the Arctic Home in the Vedas pp. 447-448.

of sentences i.e. as they are linguistic constructs, they must be of human making. The idea that any linguistic construct can exist without being shaped by human agency is quite unacceptable to the modern mind. Nay even further, that a word, that is to say, a peculiarly arranged sequence of human sounds, can bear any meaning or relation towards any concept, without first an agreement to the effect, express or implied, taking place on arbitrary basis in this connection among men, has become quite a revolting idea in these days.[26] So long therefore as the content of this objection has not been examined no amount of direct or indirect extraneous evidence supporting the tradition would convince a modern mind regarding its truth. It thus becomes needful to turn our attention to the implications involved in this objection.

There are in all three operations involved in the articulation of a sentence; and they can be stated here in the sequence of their taking place, in the following way: *(a)* determinate arrangement of human sounds i.e. words to denote concepts; *(b)* arrangement of these words into a sentence having a determinate meaning; and lastly *(c)* articulation of such sentences with the intention of conveying one's purpose to the hearer. Now although the sequence of these operations as they actually take place is as it is stated here, it shall be suitable to examine them in the reverse order to ascertain the extent of human function in bringing them into existence.

First then the articulation of a sentence with a view to convey its meaning. It is obvious that, although the power of making sounds is inherently possessed by every individual as a part of his constitution, the use of this power is learnt by him, in his childhood, by imitation of his elders. We have to closely follow the child's development in using and understanding language in the solution of this problem. The child no doub uses its own power but does so even when it is asked to repeat or

[26] Even Lokamanya Tilak, who among all the modern scholars kept an open mind regarding this tradition, had, being forced by the strength of the objection, to observe that; "we may, therefore, safely assert that the religion of the primeval Arctic home was correctly preserved in the form of traditions by the disciplined memory of the Rishis until it was incorporated first into crude as contrasted with the *polished hymns* (Su-uktas) of the Rigveda in the Orion period to be collected later on in Mandalas and finally into Samhitas; and that the subject matter of these hymns is inter-glacial, though its ultimate origin is still lost in geological antiquity." The Arctic Home in the Vedas pp. 456-457.

recite a sentence or a verse already spoken to him by someone else. The child's repetition of the sentence, although it gives a fresh articulation to the sound which were already heard, cannot be said to be a new making of that sentence. That is to say, as far as the articulation of sentences is concerned an individual can articulate sentences of his own making, as well as, sentences which are already known to him on them being heard by him from articulation by others. That which deserves notice here is the sequence ; the child first learns to repeat, and then, after it has mastered the art of repetition, it learns to make and speak sentences of its own. So, simple articulation of the Vedas by human beings is not an infallible index to the truth of the proposition that they are of human making. The tradition of the study of the Vedas goes back to the Vedas themselves. Not only Yaska, the ancient author of the Nirukta, jocularly cries down the Brahmanas who recite and commit to memory lengthy passages after passages from the Vedas, but the Vedas themselves allude to this system of oral teaching and preserving in memory the whole of their text.[27] Thus for a refutation of the tradition the reasoning that the Vedas are reproduced by human articulations is of no use.

The second operation is : arrangement of words into sentences having a determinate meaning. To understand the nature of sentence we must understand the laws of combination of the meanings. The individual words have their specific individual meanings and the relations of these meanings, which cement them into one unitary judgment, are expressed by the component words by dint of their juxtaposition in a sentence in obedience to these laws. The definition of Vakya or a sentence gives indication of these laws. "वाक्यं स्यात् योग्यताऽऽकांक्षाऽऽसत्तियुक्तपदोच्चयः ।" that is to say : "A group of words possessing आकांक्षा or mutual expectancy, योग्यता or relevancy, and आसत्ति or proximity, both in regard to place and time, is a sentence." By examining this definition we find that there are three elements essential for the formation of a sentence. They can be properly explained by examining a sentence such as "Here is a black jar." If only the adjective 'black' were articulated it would not give a complete meaning and there would be an expectation for another term 'jar.' This capacity for giving rise to expectation in a human mind constitutes one of the bonds of the terms of the sentence, with which it produces a judg

[27] Compare the Manduka Sukta Rig Veda, VII, 103.

ment. "Relevancy" is also a necessary element. We cannot speak of a 'cold fire,' because the meanings are incongruent and irrelevant. And thirdly, the separate articulation of words after long intervals will not give rise to the verbal judgment. So these three laws must be satisfied before there can be a sentence. But on the satisfaction of these three conditions it is not further necessary that in the case of each and every arrangement of words into sentences human workmanship must be present as an adjunct. Of course sentences can be of human making; but human workmanship is not a *sine qua non* of each and every sentence. Here also we see that every individual first learns from a senior person the art of framing sentences or propositions by imitat'on and then utilises this art for his use by making independent and newly fabriacted sentences or propositions.

Do the propositions or sentences bear any independent meaning besides the collective meaning of their terms ? The proposition is dependent for its meaning on a single term—the predicate. All other terms in one way or the other qualify the predicate. The meaning of the proposition is thus determined by its predicate although it may be further qualified by the other terms of the proposition. So it is incorrect to say, that a proposition (or a sentence) has any independent meaning than the terms constituting it : a meaning, which does not exist even when all the terms of the propositions are present. Thus neither articulation of, nor arrangement of words into, a sentence demands human authorship as an indispensable pre-requisite. And in respect of the Vedic sentences tradition affirms that hese sent nces are only memorised by their students in the preceptor-pupil method and there was no man who first made the arrangement by his efforts. For each particular generation of Vedic scholars there is a corresponding preceeding generation of its teachers from whom this generation of scholars studied the Vedas by oral instruction.[28]

Moreover any proposition of human authorship to be true ought to indicate a meaning entirely covered either by real human experience or by inference legitimately following from it. An assertion regarding a state of facts, beyond the pale of human experience and its legitimate inference and made by a human being, will not be fit to be trusted as there is no means for its being verified. The Vedic propositions, however,

[28] वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा ॥
Shlokavartika VII, 366.

assert a state of facts which is plainly beyond the pale of human experience. No person is in a position to declare the truth or falsity of these propositions with the help of his own faculties of perception and inference. Modern thinkers usually declare such utterances to be superstitious and without a grain of truth about them. But they have never given any explanation of the causes how such untrue assertions came to be believed in as implicitly true, even by persons who possessed faculties of perception and inference indentical to those which they themselves possess, and who are known from their history to have been recognized by everyone, as the most wise and learned men of their times. A Vedic proposition such as "A person should perform a sacrifice to attain heaven" has been not only recognized as a true proposition but actually worked up by all wise and learned men among the Vedic Hindus in a long line of succession from a time the beginnings of which no one knows. There is no justification for any person, whether modern or ancient, to assert that all these wise and learned men either were credulous and superstitious or that they did something, regarding the efficacy of which they entertained grave doubts.

We now turn to the consideration of the first operation, which is stated thus : determinate arrangement of human sounds, i.e. words, to denote concepts. The substance of this statement can be expressed by two questions : how are words formed ? and how do they get their meaning ? It is true that languages do contain words of human coining where both, the construction of the word, and the assigning of a definite meaning to such construction, are of human making. Modern writers on linguistics have given numerous examples of such words from the different languages of the world. And every reader is so familiar with this operation that it is not necessary to specially refer to the case of any particular word here. But the conclusion of modern linguistics that all languages are products of conscious human effort and words have meanings which are either arbitrarily assigned to them or conventionally accepted with respect to them, by human beings, is a far-fetched conclusion. If all acts attending the operation were closely examined and if we try to go to the beginnings of languages we shall have to conclude that the position taken by the modern linguists is incorrect and unjustified.

Men coin words but they coin these words because they are already familiar with other words. They know that human languages consist of

words, that is to say, a set of human sounds having a determinate arrangement and possessing definite meanings. The process of coining new words presupposes the existence of languages and words having meanings. A child learns a language by imitation; he studies the use of words made by his elders and he remembers their meanings. He first learns to use these words to indicate their meanings, whenever he desires to do so. It is only after he has mastered the process of correctly repeating the words to indicate their meanings he studied from his elders, that at a later stage he may coin a word or words for himself. If the newly coined word is accepted by others both with respect to its phonetic construction and its arbitrary meaning, it may get currency in the language. If not, the word shall cease to have any linguistic existence. But all this proves that each language must have an irreducible nucleus, either at present existing and clearly discernible, or now lost owing to constant changes and corruptions besetting it in course of time, postulated for it, and on the foundations of which the whole edifice of newly coined words, forms, and grammatical cases might have been slowly built up. So it is proper to differentiate in each language between words forming its original nucleus and words forming the later superstructure built over it through human efforts.

In examining the nature of Vedic words we have to take into consideration the case of the Sanskrit language. It will be noticed that the growth of this language has taken place under altogether different conditions than those which have attended the growth of the other languages of the world. In Sanskrit, words, forms, particles, and other grammatical cases, have developed only along certain definite lines which alone can, with any regard for justice, be declared to be truly scientific. Extreme care has all along been taken to maintain the purity of the language intact and not to allow any obliteration in the original relationship between a word and its meaning. This is not noticeable in any other language. Every other language, besides the Sanskrit, has been submitted to all kinds of changes without the least regard to the original meanings of its words, the original forms of its diction and the original grammatical concepts. This has altered the nature of these languages to such an extent that now there does not exist any possibility of discerning in them the original nucleus of roots, words and forms. This fact has led the modern linguists to hold that all languages are of human making and the words in them bear only

arbitrary or conventional meanings. In Sanskrit the case is altogether different. The Sanskrit writers,[29] Grammarians, Logicians, Mimamsaks, Vedantins, Poets and prose authors, in fact composers of literary works belonging to all branches of Sanskrit learning, have accepted two rules as indisputably true in the use of this language. Even the cultured and the refined among those who use the language by word of their mouth admit the force of these rules and abide by them in their speech. They are: (1) "साधूनेव प्रयुञ्जीत नासाधून् ।" "Only approved words are to be used; not those which are unapproved." and (2) "गवादय एव साधवो न गाव्यादयः ।" "To indicate 'cow' and such others, only '*go*' and such other words are the approved ones; not '*gavi*' and such others." These two rules make the position absolutely clear. The language recognizes a fundamental distinction between approved and unapproved words. Those words which have got an approved and an immemorial tradition of existence and of bearing a definite meaning behind them are approved words such as the word '*go*' meaning 'cow'. Those other words which are derivatives of these words, but derived according to the approved rules of derivation i.e. rules which are deduced from the long-established usages regarding derivations, and bearing also derived meanings, are also approved words. Absolutely new words can also be recognized as approved words if such words do not in any way either replace old words or obliterate their sense. The word '*Pilu*' for example, in Sanskrit means 'a particular kind of tree' while if, following the usage of the Mlechhas, the same word '*Pilu*' were used to denote 'an elephant' in a way which would abolish the use of the word in its old meaning or that it would obliterate the old sense, then this use of the word would not be approved. There is no prohibition to any new word getting currency in the Sanskrit language provided there is no alteration introduced in the use of old and approved words or in the other immemorial usages recognized by grammar, by the use of such new words. Thus approved usage is the delimiting factor of grammar and lexicon and grammar and lexicon based on approved usage are the basis of the future use of language. Thus immemorially established approved usage governs the whole cultured and refined use of the Sanskrit language in all climes and ages. In other

[29] Each branch of the Vedic learning has exhibited great efforts to carefully preserve and protect the meanings of words by preparation of such works as the Nighantu, Shaktivada, Vyutpattivada, Sabda Shakti Prakashika, and others.

languages usage, neither approved nor long-established, but usage pure and simple, governs the growth of the grammar and lexicon of such languages and thus enables these languages to drift away far off from their original moorings. Sanskrit is the language of the Aryans and the Aryans have taken almost superhuman care to maintain its purity as they have done in the case of their other actions. Words indicate objects—perceptible and imperceptible by senses. The form and entity of imperceptible concepts are entirely dependent upon the words which indicate them. If such words change, even in the slightest degree the concepts denoted by them would also not retain either their shape or entity. And any change in these concepts would result in causing an irretrievable defect in the Dharmic action—physical or mental—dependent upon it. Therefore it is emphasised that: "आर्या हि शब्दैकसमधिगम्यधर्माधर्मयोरविप्लुतिलिप्सया शब्दार्थतत्त्वं विविच्य परिपालयन्ति, नम्लेच्छाः, दृष्टार्थव्यवहारस्य यथाकथंचिदपि सिद्धेः।"[80] The Dharma of the Aryans is knowable only from a knowledge of words as it is entirely dependent upon concepts imperceptible by other means of cognition. It is their natural desire that their Dharma should be preserved without any alteration or blemish; so they are very careful regarding the use of words and language so that the concepts denoted by them may always remain intact. This is not the case with the Mlechhas. They use their language to denote only perceivable objects and concepts to be inferred from such objects. New usage of words for denoting this kind of objects do not make any material harm, as the people having before their minds the actual object as well as concepts get accustomed to such altered usage in course of time.

We have examined all the three ingredients in the fabrication of sentences or propositions and have thus found that none of these ingredients involves human workmanship as an essential factor. Of course human agency is necessary for the articulation of sentences or propositions. The Vedas are recited, generation after generation, from preceptor to pupil, by the twice-born among the Vedic Hindus; but the tradition does neither admit any beginning nor any human authorship regarding them.

[80] See Bhatta. Dipika: Chapter I, iii, 5. For a ditailed discussion on the relationship of words and their meanings as carefully maintained by the Sanskritists the commentary on this passage should be read.

D

It remains now to examine the fourth part of the Vedic tradition, viz. the Vedas possess an inherent validity. It has been stated above that the Vedas consist of positive and negative injunctions, that is, rules stating what is right and what is wrong, or in other words, what a specified person should do and what he should refrain from doing under specified circumstances. We observe men doing actions. How are they impelled to do such actions? A person must be first satisfied that a specified action would lead to a desirable result before a tendency to undertake such specified action is created in him. It is the nature of man that as soon as he is satisfied with respect to three matters in connection with a specified action a tendency to undertake the performance of that action is invariably generated in him. These matters are: that *(a)* the specified action must not be accompanied by a preponderating undesirable result; *(b)* it must yield a desirable result; and *(c)* it must be capable of being performed by the person in whom the tendency to undertake it is to be generated. We observe that men undertake the performance of actions on satisfying themselves on verification by the method of invariable concomittance the capacity of such acts to satisfy all the three conditions stated above. No example need be cited as this is a matter of our everybody experience. But does this process cover all the cases of human tendency to undertake actions? Or is there any other causal relationship existing for the generation of such tendency? We observe in many cases that the direction of a competent person with respect to the performance of any specified action does generate such a favourable tendency in another person although this other person has not himself verified by experimenting with such action whether it satisfies all the three conditions or not. The tendency in such a case is generated because the performer has satisfied himself regarding the competency of the director with respect to other parallel matters from which he is generally convinced regarding the beneficial character of the directions of this person.

If this process were more clearly examined we would discern in it the causes for the original tendencies of any individual. If we ask the question: Why even the tendency to satisfy oneself by experimenting with any new action regarding its *(a)* being unaccompanied by any preponderating undesirable result; *(b)* capacity to produce a desirable result;

and *(c)* capability of being performed by the experimenter, is generated in any individual? Why should he not even refuse to undertake the trouble of performing the experiment? Every action, however small, and whether physical or mental, involves some effort; and why should a person be willing to undertake even any small effort so long as he is not satisfied regarding the beneficial nature of the action to be undertaken at a future moment. The answer of the western philosophers to this question is that this is the nature of man. This solution of this problem seems hardly satisfactory; because if it is the nature of man to undertake effort (which means trouble to him) without being satisfied of the beneficial character of the action which is the cause of this effort, then there is no explanation of the phenomenon of his first satisfying himself on the above three heads before he undertakes other actions. We should expect the generation of this tendency to undertake the performance in the case of each and every action as soon as it is presented to any person. The explanation lies in the fact that such tendency is originally created in an individual on his seeing any action being performed by another person. At the time he sees another person performing such action he himself is not satisfied regarding its beneficial character. But still he is impelled to do it only by imitation. He reasons to himself in this way. The other individual is situated similarly like himself. He seems to possess the same faculties and capacities as he himself possesses. He would feel himself troubled by the performance of the action; but still he is doing the same or has actually accomplished the same. This implies that the other individual—the doer of the action—must have previously satisfied himself regarding the beneficial character of the action. If he himself would undertake it, no doubt he would be required to undergo some slight trouble, but on the whole he would also be benefitted by his performance of this action. It is by reasoning in this way to himself the individual seems to undertake any action originally. It is no doubt true that later on the performer of the action gets himself convinced of its beneficial character on verifying its result. But it is erroneous to assume that all human tendency to act is dependent upon an initial verification. It seems, therefore, that there must have inherently existed in the mind of man a definite knowledge regarding the beneficial character of some acts at least, without such knowledge human tendency to undertake effort in the performance of action is inexplicable.

Let us take the case of the science of medicine as the device of recovery to normal health from illness. Illness is a visible phenomenon. But the recovery from illness by the use of medicine is a very complicated process the knowledge with respect to each step of which cannot be held to have been initially acquired only on the use of the experimental method. There exist in the world thousands and thousands of herbs and minerals; the task of classifying all such herbs and minerals has not been as yet accomplished. How could the early man ascertain the qualities of all such herbs and minerals by experimentation? How could he even know in the beginning that certain herbs and minerals might possess the quality of improving a man's health when it is impaired by illness? There are hundreds and hundreds of diseases. How could he differentiate between remedies and remedies, medicines and medicines. Was it all by experimentation? The internal process of recovery is completely invisible. So in his primitive experiments the early scientist must have caused terrible losses on humanity. But still how did he set himself to working in a particular direction? The whole process is inexplicable without assuming inherent knowledge. This inherent knowledge does not mean instinctive or intuitive knowledge which is a part of human constitution itself. In that case each and every individual as soon as he is born would possess it in the same way he possesses the several limbs of his body or the power of understanding. This knowledge regarding the reality of things about him is possessed by human beings from their language. It is preserved by them from generation to generation by being transmitted in the words of such languages denoting concepts and propositions. There are two varieties of such knowledge: Knowledge the truth of which can be verified by actual experience; and knowledge which cannot be thus verified. Men are in a position to preserve that portion of this original knowledge which is of the verifiable variety although the language and the words which it contained have been materially altered through the negligence of their users. But if through the negligence or through the ignorance of the users of the language and its words, material changes have taken place in them, then the knowledge of the other variety i.e. knowledge which cannot be verified is irretrievably lost to the present day successors of its past claimants. The special merit of the Vedic Hindus lies in the superhuman effort the Brahmana class of this human group has made throughout the countless

ages to preserve intact, without the slightest blemish, the original fund of human knowledge—especially the non-verifiable variety of this knowledge by the memorization of the Vedas, syllable by syllable, nay even accent by accent and to preserve the whole of its meaning without any change.

The modern thinker refuses to recognize Sabda or verbal testimony as a separate means of cognition. It is held by him on a superficial examination that language or words cannot have an independent existence as a means of cognition. But on closer analysis it is found that the problem of the relation of cognition to language is the problem of the relation of intuition to expression as well as the problem of the categories and their relation to language. Examine any experience. We find that all experience which is more than a mere vague awareness is already constituted and categorized by language. The question raised by the thesis of the modern thinker could be stated in these terms. Is then cognition independent of language and discourse and is the relation of language to reality an entirely external and artificial one? The conception of the relation of language to reality involves also a conception of the relation of language and linguistic meaning to truth.

Are the meanings of the word 'know' identical in the following two uses of that word: *(a)* "most knowledge is of the undefined as for instance knowledge of love or knowledge of life;" and *(b)* "everything can be defined, and if I cannot define it, I cannot know it." In the first case the speaker means that he has internal sensation of such objects as love or life but they are not perceived by him directly through his senses. In the second case the speaker asserts that although objects might be directly imperceptible by senses still as he can demarcate and define them by the means of words and language he can internally distinguish them and therefore he knows them. He could not have known them if he did not possess the means to distinguish and specify them. Thus for him where there are no words denoting objects, the knowledge of such objects is an impossibility; thus it is words which delimint the province of reality.

But is the existence of language essential for knowledge by mere acquaintance, without any element of representation or description attending it? One would say surely there is cognition, or knowledge in some form, before language arises. Bergson has stated the case in the following

words : "Suppose language fallen into disuse, and society and communication dissolved......the dampness of the ground will subsist none the less, capable of inscribing itself automatically in sensation and of sending a vague idea to the deadened intellect. The intellect will still affirm in implicit terms......And consequently neither distinct concepts, nor words......nor the desire of spreading truth, nor that of bettering oneself, are of the essence of affirmation."[31] Here Bergson affirms that something would be left if all language were gone. But can the person experiencing the sensation would be able to "know" it ? Awareness of the dampness would still be there—the mere whatness of the sense datum and perhaps its otherness. It is questionable whether he will be able to know even its otherness. For to recognize otherness he will require to make distinctions and these distinctions even when mental and contained to himself are the products of language. It is doubtful whether he will be able even to affirm to himself regarding the awareness of the dampness of the ground in these terms : "That is that." But even this tautology, affirmed merely implicitly, involves linguistic form. It is clear, therefore, pure awareness as here postulated does not even give us presentational knowledge in any intelligible sense of the word ; it is not an acquaintance with objects, not even with simple qualities. Not only there can be no expression but one cannot tell what this intuition gives him. Language is so closely involved in the other means of cognition that reality is dependent upon language. Especially the reality of objects experienced through internal sensations wholly depends on the use of language. In their case it is language which teaches us to discern and identify them. Words bring them into existence and the mind picks them up through them, cherishes them and learns to appreciate their reality. Similar is the case of objects permanently beyond the pale of human experience both internal and external. It is through words that we have first got ourselves acquainted with them, and our mind dwells upon them, cherishes them and appreciates their reality. Language or words in their respect are the independent means of cognition.[32]

[31] Bergson: Creative Evolution p. 292.

[32] We have to carefully distinguish between two human groups : Aryans and Non-Aryans ; that is to say, Vedic Hindus and others besides them. Vedic Hindus have preserved their original language and the words it contains, and the objects they denote without the slightest alteration. This is not the case with the other human groups,

The problem of verbal testimony as an independent means of cognition can be approached from a different angle. How is the belief in the words of a person created? Through inference, or implicitly on the hearing of words? Man tends to believe what is said to him unless he has some positive reason for doubting the honesty or competence of his informant. But in many cases the statements of others turn out to be false. So the mere psychological belief is not to be confused with logical certainty. The truth of true knowledge must be logically ascertained. And if the truth of testimony is to be ascertained independently of testimony then how can testimony be an independent source of knowledge? But the same difficulty is experienced in the case of knowledge through perception and inference. On many occasions knowledge obtained through these means of cognition turns out to be false. I see a distant object to be a man; I may be correct or I may be mistaken. The truth of this knowledge depends upon my possessing a perfect power of perception. But any defect in my power of perception can be brought to my notice through an independent means of cognition.

So in examining the truth of any piece of knowledge we have to satisfy ourselves on two heads: *(a)* How is knowledge obtained? and *(b)* Is the content true? The first concerns knowledge of facts, the second knowledge of validity. It shall be readily admitted that knowledge of facts is obtainable from verbal testimony. I learn from the words of a friend that he was happy. If he is truthful I ascertain his statement to be true. This knowledge that he was happy, that is to say, knowledge of facts could be obtained by me only through his testimony. Its validity was ascertained by me through inference that he is generally truthful. So far as information of facts is concerned testimony is quite an independent means of cognition. For validity the knowledge acquired through it may have to depend upon other means. Does it mean that testimony cannot be regarded as an ultimate source of knowledge? No. For in the matter of its validity knowledge acquired through other sources is attended with similar dependence. The ultimacy of knowledge, therefore, does not

For them who are not careful—who have not built up their language in the scientific way of the Vedic Hindus—language creates new objects and entities, which become the subject of fresh discourse and thus objects of knowledge. Language takes them away from reality as previously experienced, that is to say, language distorts reality for them.

depend upon the means of cognition; it depends upon the certainty that the instrument whereby the knowledge was acquired was not a defective instrument, and that there was no other kind of hinderance to the acquisition of the knowledge of the knowable object. Such defects do exist in the sensory organs of the human body and thus the knowledge acquired through them though direct is not true and dependable. Similarly if the probans is defective the inference would be a false one and the knowledge undependable. In the same way if there were committed any fault by the person in the use of words, which were the vehicles of the verbal knowledge, then obviously the knowledge shall be false and not to be depended upon. Hindu logicians and the Mimamsakas have carefully ascertained and enumerated all possible defects that may arise in the use of instruments and agencies in all these means of cognition. And if from some independent source it is ascertained that any such instrument or agency used in a particular cognition is free from all possible defects then the conclusion follows that the knowledge thus acquired must be ultimately true. In fact the verification of the truth of a piece of knowledge is nothing more than an examination of the purity of the instruments and agencies to be used in the appliance of the means of cognition together with an examination of the external conditions attending the datum of knowledge sensation.[33]

The examination of the favourable character of these two factors decides the ultimately true nature of the knowledge. In the matter of verbal testimony as a means of cognition there are four possible defects in the use of words: viz. *(a) bhrama*; or confusion; *(b) pramada*; or error; *(c) vipralipsa*; or desire to decieve; and *(d) karanapatava*; or absence of skill in the performer i.e. the user of words. Now it is obvious, that any or all of these defects may exist if words and linguistic construction are of human origin; but in the case of the words of the Vedas, as

[33] The question of examining the above factors arises only when there is felt any doubt regarding the true character of the knowledge. So long there is no doubt the practical affairs of man are carried on the strength of the knowledge thus acquired. Knowledge is self-revealed and its correctness is self-evident and on this self-evident correctness are based all actions of man.

तस्मात् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ।। Sloka Vartika II-53.

they have not originated from any human being, there is no possibility of any defect attending the Vedic words and propositions. So it is quite justifiable for the Vedic Hindus to hold the word of the Vedas as an independent means of cognition along with perception and inference. So the fourth part of the tradition that the Vedas possess inherent validity is also fully true.[34]

E

This completes the examination regarding the truth of the Vedic tradition in all its aspects. We have seen that *(a)* the Vedas are a single entity; *(b)* they are the only source of the knowledge of good and evil, of right and wrong actions; *(c)* they are eternal and self-revealed and, therefore, are no work of human craftsmanship; and *(d)* they possess inherent validity. The proposition of the Vedic Hindus, that the knowledge obtainable from the Vedas is ultimately true, is logically an unassailable proposition; it is transperantly true. The modern Vedic scholar shall have to wholly rectify his mental attitude towards the Vedas before his studies of this subject can acquire the attribute of correctness in any measure. So long as blindly accepting the wrong conception of the early European Pandit he pursues his studies any product of his labours, however carefully worked out it may be, shall hardly stand the rigorous test of logic and shall hardly serve any useful purpose. There are very slender chances for any of such studies to contribute in any material degree to the real appreciation of the Vedic learning and culture. The degree of divergence in the views of the modern scholars in the matter of ascertaining the position of Vedic learning and culture among those of other civilizations of the world and in that of their absolute appreciation, is so striking, that, without even discussing the merits of the works of each it would be logical to say that all of them have missed the target. In whatever subtleties and refinements of dialectical problems the traditional Vedic Pandit may indulge himself to him there is no doubt about the transcendental authority of the Vedas. To each and everyone of them, be he a Naiyyayika, a Mimamsaka, a Vedantin, or, for that matter, a scholar of any other branch of Sanskrit learning, the Vedas give absolute truth.

[34] दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु विद्यते ।
वेदे वक्तुरभावात्तु दोषशंकैव नास्ति नः ॥ Kamasutra, I, 2, Trivargpratipatti.

V

The nature of the Vedas has been comprehensively examined in the preceding sections ; it now remains to assess the value of the Vedic learning in the scheme of human knowledge in a general way. This shall be very briefly done in this section. It has been stated above that according to the view of the traditional Vedic Pandit all useful learning—art as well as science —has sprung from the Vedas. And he is fully supported in this view of his by every Vedic Hindu. Is this a just or an exaggerated claim ? It is common ground that the knowledge of the self, of the phenomenal world, of the ultimate Reality, and of their relations, is obtainable to man through the Vedas alone. The three aspects of the ultimate Reality or the Supreme Being viz. सत्, चित and आनन्द ; existence, consciousness and bliss are also cognized only through the testimony of the Vedas. It is from the Vedas we know that in the attributive universe the Supreme Being appears to get forms of spirit and matter ; and spirit appears to get involved in matter. It is the constant effort of spirit to rid itself free of the contamination of matter in which it seems to be involved and again reach the status of सच्चिदानन्द, or of perfect existence, perfect consciousness and perfect bliss. Every individual self is naturally impelled to set himself free from this confinement and through various means, attempts to achieve these stages by his efforts. Learning, that is to say, all art and science is born of and is developed by these efforts of human beings to reach perfection through knowledge, beauty and happiness. The cover of matter over the aspect of "bliss" and of "consciousness" of the Supreme Being is lifted by the means of Art and Science and thus Art and Science born of the Vedas and rightly developed leads man through their knowledge to the attainment of ultimate Reality.

चैतनस्य स्वभावेन संरुद्धस्य मलेन च ।
अभिज्वलनहेतुर्या सा कलेत्यभिधीयते ॥
अष्टादशानां विद्यानां कलाविद्याभिधे शुभे ।
शक्तो मूकोऽपि यत्कर्तुं सा कलेति प्रकीर्तिता ॥ Shritatva Kalanidhi
कलोत्कलितचैतन्यो विद्यादर्शितगोचरः ॥ Bhavaprakashana

As the ultimate aim of man, or rather the nature of man, is to reach Reality, all human knowledge and activity should have the character of becoming the true means of attaining this ideal goal. This shall be so only

when human knowledge and activity acknowledge the source of the knowledge of Reality and are built up on its foundations. Thus alone such knowledge and activity can possess the attribute of right or good or useful. Any knowledge or activity which does not satisfy these conditions cannot lead man to the achievement of the final goal[35]. All Vedic learning acknowledges the supreme authority of the Vedas and has been built up on the foundations of the Vedas.

This is not merely a logical tautology; an examination of the basic works of the various branches of Hindu learning yields the same result. Each and everyone of such branches of learning—whether of art or of science—through their most prominent exponents freely acknowledge its Vedic origin as well as the ultimate authority of the Vedas in respect of every proposition enunciated by it. The Vedas themselves at several places, directly or indirectly, indicate the Vedic origin of all learning. The Mundaka Upanishad at one place refers to the *Para* Vidya and the *Apara* Vidya, which both together constitute the totality of human knowledge as having sprung from the Brahma, or in other words, the Vedas. In the Chandogya Upanishad (in the seventh chapter) the sage Narada enumerates several branches of learning such as, Itihasa-purana, astronomy (Nakshatra Vidya), political science (Ekayana), science of wealth, military science (Kshaha Vidya), Metaphysics (Brahma Vidya), and several others, as having been learnt by him. The mention of the names of these sciences, physical as well as human, in the Upanishad assures us of their Vedic origin and growth.

An exhaustive collection of all references from the basic works of the different branches of Hindu learning is not possible within the compass of this essay. The following statement will be sufficiently compendious to convince the reader of the truth of the claim. A basic classification of human sciences is made in accordance with the three great aims animiating all human conduct, Dharma, or pursuit of duty; Artha, or pursuit of material wealth and power; and Kama, or pursuit of pleasure. Three great branches of Hindu learning have sprung to show the true way to men in the pursuit

[35] Although by nature man is impelled to do effort to reach the goal, the cover of ignorance in which every soul is enwrapped very often leads man to adopt a wrong course. Knowledge and activity along this course cannot be said to be useful.

of these aims. The authoritative works of these sciences themselves submit to the authority of the Vedas, and lay down their propositions and rules fully consonant with their precept. It is no matter of surprise that the works of Dharmashastra should do so; that Shastra mainly deals with matters connected with the life in the next world and with future lives. But in Hindu wisdom the Arthashastra and the Kamashastra, also fully acknowledge the all-pervading authority of the Vedas. The opening chapters of the works of Vatsyayana, Kautilya, Kamandaka and other authors fully substantiate this proposition. It is well-known that the Ayurveda or the medical science, the Dhanurveda or the military science, the Gandharvaveda or the science of music, have sprung up as the subsidiary parts of the Rig Veda, The Yajur Veda and the Sama Veda respectively. The works developing these sciences acknowledge the validity of this claim. The six lores of Shiksha, or the science of euphony; Kalpa, or ceremonial or sacrificial ritual; Vyakarana, or grammar; Nirukta, or etymology; Chandas, or prosody; and Jyotisha, or astronomy have directly emanated from the Vedas and their original works are even today studied as parts of the Vedic studies. The authors of the works of the six systems of philosophy lay down the Vedic origin of their systems. These systems do not deal with merely philosophical speculations. They are different approaches to the same goal and, therefore, deal with such branches of learning as psychology, physiology, physics, logic and others. Even the works concerning such as sciences or engineering (Shilpa), metallurgy (Dhatuvadaka), dramaturgy (Natya), hunting and games (Shyainika), mining (Nidhi), all these acknowledge their Vedic origin. The works on asthetics and the different arts have also to tell the same tale. There is no branch of learning, either human or physical, developed by the Vedic Hindus which does not affirm both the source and the authority of the Vedas.

The vast of expanse of Hindu learning thus presents a synthetic view. The whole body of knowledge is a single structure; every branch or part fitting in with all others as a cell is connected with the other cells of a body. There is full co-ordination between all these branches and the progress or develoIment of any one is progress and development of every other branch as well as general progress towards the realisation of the ultimate goal. There are no branches in this learning which grow old and absolute. Those branches of learning which disown the authority of the Vedas and develop

along independent lines follow a hundred paths leading to ignorance and they are bound to conflict with each other, contradict each others propositions and create a sense of futility for those who study and follow them. Truth is one; and all knowledge, directed towards it through science and art, leads men towards the truth by diverse but co-ordinated paths. Knowledge which conflicts, and creates confusion; which renders other knowledge obsolete and itself becomes obsolete on the birth of other knowledge is sham; is cloaked ignorance; is no knowledge at all. Manu closes his great work with the following observation:

> या वेद बाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
> सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठाः हि ताः स्मृताः ॥
> उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानि चित् ।
> तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यांनृतानिच ॥ Manusmriti XII, 95-96

V. V. DESHPANDE.

Printed at the Benares Hindu University Press, Benares.